अतीत का विसर्जन । अनागत का स्वागत

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

अतीत का विसर्जन : अनागत का स्वागत

आचार्य तुलसी

सम्पादिका : साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

अर्थ-सौजन्य : श्रीमती दर्शनमाला जैन (धर्मपत्नी श्री जसवतराय जैन) दिल्ली ने अपने सुपौत्र चि० निपुण जैन के शुभ जन्म के उपलक्ष्य मे ।

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रवन्धक : आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान) / मूल्य : पचीस रुपये, सस्करण : [illegible] मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

ATEET KA VISARJAN : ANAGATKA SWAGAT
by Acharya Tulsi
Rs. 25.00

स्वकथ्य

मेरे भीतर एक सपना उग रहा है। उसे मै देखता हू या वह मुझे देखता है, मै नही जानता। बस, मैं तो इतना भर जानता हू कि सपना उगता है, काल-लब्धि का योग मिलता है और वह एक पौध बनकर लहलहा उठता है। मैंने अपने मन की धरती पर आज तक न जाने कितने सपनो के बीज बोये, वे अकुरित हुए और फले-फूले। जब-जब मैं पीछे मुडकर देखता हू, अपनी एक-एक स्वप्न-यात्रा के मर्मस्पर्शी अनुभवो से सवेदित होकर नित नये सपने सजोने लगता हू।

मेरा एक स्वप्न था—धर्म-सघ मे साहित्य की नयी धाराओ का उद्भव। नये रूप, नयी विधा और नये शिल्पन से मेरा व्यामोह है, यह बात तो नही है। फिर भी नवीनता मुझे प्रिय है। क्योकि मेरा यह अभिमत है कि शैलीगत नव्यता भी विचार-सप्रेषण का एक सशक्त माध्यम है। सृजन की अनाहत धारा स्रष्टा और द्रष्टा दोनो को ही भीतर तक इतना भिगो देती है कि लौकिक शब्दो मे लोकोत्तर अर्थ की आभा निखरने लगती है।

एक समय था जब तेरापथ धर्म-सघ मे कोई भी साधु-साध्वी हिन्दी मे लिखने या बोलने की स्थिति मे नही था। युगबोध और अपनी अवधारणाओ को युगीन सन्दर्भो मे प्रस्तुत करने के लिए हिन्दी भाषा मे प्रवेश करना जरूरी था। एक दिशा का निर्धारण हुआ और साधु-साध्विया चल पडे। घनीभूत इच्छाशक्ति, दृढ सकल्प, लक्ष्य के प्रति समर्पण और नये सृजन की योग्यता जिन-जिन मे थी, वे सब उस दिशा मे बढते रहे, जहा से वे कुछ कर सकते थे। अनेक विधाओ मे साहित्य का निर्माण हुआ है, हो रहा है और विद्वज्जगत् मे उसका उचित समादर भी हो रहा है। पर मेरी स्वप्न-यात्रा का आखिरी पडाव यही नही है। मैं बहुत दूर तक देख रहा हूं और अपने धर्मसघ को वहा तक पहुचाना चाहता हू। क्योकि अब तक जितना साहित्य सामने आया है, उसमे मौलिकता अधिक नही-है। वैसे हमारे देश के सम्पूर्ण साहित्य-जगत् मे मौलिक सृजन करने वाली प्रतिभाए बहुत कम है, जो है वे भी कुठित हो रही है। किसी भी देश की चेतना बुद्धिजीवी लोगो की रचनात्मक आलोचना से झकृत होती है। हमारे देश के लेखको ने समाज की परिस्थितियो के

सन्दर्भ मे अपनी स्वतन्त्र सोच-समझ का पूरा उपयोग नही किया है। यही बात साधु-साध्वियो पर घटित होती है। उन्होने भी स्वतन्त्र रूप से अपने चिन्तन को खोलने की आवश्यकता नही समझी। फलतः समाज की चेतना को झकझोरने वाला साहित्य नही के बराबर है। इस अभाव को भरा हुआ देखने के लिए अथवा साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र मे जो शुचितापूर्ण परम्पराए चली आ रही है, उनमे उन्मेषो के नये स्वस्तिक उकेरे हुए देखने के लिए मैं बेचैन हू। मेरे धर्मसघ के सुधी साधु-साध्विया इस दृष्टि से सचेतन प्रयास करे और कुछ नयी संभावनाओ को जन्म दे, यह अपेक्षा है।

साहित्य-सृजन की प्रेरणा देने मे मुझे जितना आत्मतोष होता है, उतना ही आत्मतोष नया सृजन करते समय होता है। यह बात दूसरी है कि अन्यान्य व्यस्तताओ के कारण स्वतन्त्र रूप मे लेखन का अवकाश मुझे कम ही मिल पाता है। लेखन का अवसर जितना दुर्लभ है, बोलने का अवसर उतना ही सुलभ है। प्रवचन मेरी दिनचर्या का अनिवार्य अग बन गया है। इसलिए जब कभी लिखने की अपेक्षा सामने आती है, प्राय मैं बोल देता हू और साधु-साध्विया उसे लिपिबद्ध कर लेते हैं। पर इतने से काम नही चलता। उसको सजाने, सवारने और आकार देने मे साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा का हाथ लगता है, तभी उसको पुस्तक की आकृति मिलती है। मेरा जितना साहित्य पद्य-गद्यात्मक है, उसमे सम्पादन का क्रम प्राय यही रहा है। इस काम के लिए कनकप्रभा को प्रेरित नही करना पडता, वह स्वत स्फूर्त प्रेरित रहती है। इसमे उसकी जो तत्परता है, वह अन्य साधु-साध्वियो के लिए भी अनुकरणीय है।

'अतीत का विसर्जन अनागत का स्वागत' समय-समय पर दिये गये प्रवचनो और कुछ विशेष उद्देश्य से लिखे गये निबन्धों का सकलन है। मेरे ये विचार किसी भी पाठक की विचार-यात्रा मे सम्बल बन सके तो पुस्तक के प्रकाशन की सार्थकता है।

आचार्य तुलसी

जैन विश्व भारती

लाडनू

८ नवंबर, १९९१

अनुक्रम

अर्हंतों की नियति

भगवान् महावीर शब्दजीवी नही थे, सत्यजीवी थे। उन्होने सभी प्रकार के पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर सत्य की खोज मे अपना पहला पग रखा। यह उनकी आलोक की यात्रा थी। उन्होने अन्धकार के अभेद्य कवच को छिन्न-भिन्न कर आलोक से साक्षात्कार किया। अन्धकार मे जीने वाले लोग आलोक को नही पहचान पाते। वे आलोक पाने के लिए लालायित है, पर उसकी सत्ता को न समझ पाने के कारण वे उसे अपने दाए-बाए छोडकर आगे बढ जाते है। महावीर की सत्य-सन्धित्सा अबाध थी। सत्य को पाने की उनमे जो उदग्र अभीप्सा थी, वह उन्हे सुख-सुविधाओ से पार उस लोक मे ले गयी, जहा सत्य के अतिरिक्त कुछ था ही नही। वे सत्यद्रष्टा बने, सत्यस्रष्टा बने और सत्य को केन्द्र मे रखकर उसकी परिक्रमा करते रहे।

भगवान् महावीर न तो परम्परावादी थे और न ही परम्परा-भजक थे। उन्होने किसी परम्परा का अनुसरण नही किया, पर नयी परम्पराओ का प्रस्थापन अवश्य किया। 'अमुक महापुरुष ने ऐसा कहा है, इसलिए मै ऐसा कहता हू'—यह भाषा महावीर की नही थी। 'यह ऐसा है, इसलिए ऐसा होना चाहिए'—इस तर्क या सम्भावना की भाषा मे महावीर कभी नही बोले। मैं कहता हू—यह ऐसा है। महावीर के इस कथन मे अह नही था। वे आत्म-साक्षात्कार की वेदी पर खडे होकर बोलते थे। जब तक उन्हे आत्म-साक्षात्कार नही हुआ, वे प्राय मौन रहे। उन्हे आत्म-साक्षात्कार की प्रेरणा अपनी अस्मिता को पहचानने के लिए ही प्राप्त हुई थी। जिस क्षण उन्हे अपने अस्तित्व का यथार्थ बोध हुआ, आत्म-साक्षात्कार हुआ, वे कृतार्थ हो गये। अब उनका मौन रहना नियति के लिए असह्य हो उठा। वे बोले और श्रोता आप्यायित हो गये।

भगवान् महावीर इस युग के चौबीसवे अर्हत् थे। उनसे पहले तेईस अर्हत् हो चुके थे। सभी अर्हत् साधारण जन की तरह ही जन्म लेते है। वे विरक्त होकर मुनि बनते है। एकान्त साधना करते है। ध्यान करते है, मौन रहते है, तपस्या

करते है और मोह के चक्रव्यूह को तोड़कर अपनी चेतना की धरती से उसके पाव उखाड़ देते हैं। मोह का वलय टूटते ही उसके अभिन्न सखा शेष तीन घात्य कर्म भी पलायन कर देते है। इस कर्म चतुष्टयी से मुक्त अर्हतो का चित्त केवल ज्ञान की विमल आभा से दीपित हो जाता है। केवलज्ञान से आलोकित उनका चित्त लोकजीवन के प्रति उमड़ती हुई राग-द्वेष-मुक्त करुणा से विगलित हो जाता है और वे जनसमूह को सम्बोध देते है। उस सम्बोध को झेलने वाला कोई ग्राहक मिल जाये तो नये युग का जन्म होता है, अन्यथा ऊसर भूमि मे बहते हुए जल-प्रवाह की भांति अर्हतो की देशना निष्फल हो जाती है।

भगवान् महावीर की देशना के साथ यही घटित हुआ। उनके कैवल्य की आभा निर्जन अरण्य मे फूटी थी। देव इस घटना से अवगत हुए और अपने आत्मीय देवों के साथ समवसरण स्थल पर पहुच गये। मनुष्य लोक मे यह सूचना विलम्ब से पहुंची। इसलिए वे समय पर पहुच नही सके। महावीर अब प्रतीक्षा नही कर सके। उनकी ज्ञान चेतना के केन्द्र मे विस्फोट हो चुका था। वे बोले। उन्होने जो कुछ कहा, वह समय के प्रवाह के साथ वहता गया। उपयुक्त पात्र के अभाव मे उसका सही उपयोग नही हो सका। भगवान् महावीर की प्रथम देशना खाली गयी, इसे एक महान् आचर्श्य माना जाता है। यह घटना जृंभिक गाव से बाहर ऋजुवालिका नदी के तट पर श्यामाक गाथापति के खेत की है, जहां भगवान् महावीर पारलौकिक ऐश्वर्य का वरण कर त्रिलोक के चक्रवर्ती बने थे।

भगवान् महावीर का दूसरा समवसरण 'मध्य अपापा' नगरी मे हुआ। तब तक उनकी कैवल्य प्रभा का आलोक आसपास के सारे लोक मे फैल चुका था। समवसरण मे देवो की भाति मनुष्यो की भी अच्छी-खासी भीड थी। उस काल के ग्यारह महापण्डित भी किसी चुम्वकीय आकर्षण मे खिचे-खिचे वहा पहुच गये थे। उनके मन मे महावीर के नवोदित व्यक्तित्व को धूमिल करने की चाह उमड रही थी, पर महावीर की मोहिनी दृष्टि का स्पर्श होते ही उनका अपना व्यक्तित्व महावीर के चरणो मे निवेदित हो गया। वे ग्यारह विद्वान् अपने सैकडो शिष्यो के साथ भगवान् महावीर के शिष्य वन गये। उनकी पहचान गणधरो के रूप मे हुई।

भगवान् महावीर का परम आत्मीय भाव पाकर गणधर गौतम का जिज्ञासु मन मुखर हो उठा। उन्होंने सहज सरल भाव से पूछा—'भन्ते ! किं तत्त्वं ? तत्व क्या है ?' भगवान् ने उतनी ही सहजता के साथ उत्तर दिया—'उप्पण्णे इ वा'। गणधर गौतम का सन्देह अगडाई लेता हुआ उठ खडा हुआ—यदि इस ससार मे सब कुछ उत्पन्न ही होता रहा तो पदार्थ का अन्त कहा होगा ? वह असीम उत्पाद इस सीमित लोक मे कैसे समायेगा ? गौतम ने अपनी इस जिज्ञासा को

वाणी देते हुए फिर पूछा—भन्ते ! किं तत्त्व ? तत्त्व क्या है ? भगवान् ने बिना किसी पृष्ठभूमि के कह दिया—'विगमे इ वा'। गौतम के सोच का अब भी पार नही था। सब वस्तुए नष्ट हो जाएगी तो ससार मे क्या बचेगा ? गौतम समाधीत नही हुए। उन्होने फिर पूछा—'भन्ते ! किं तत्त्व ? तत्त्व क्या है !' भगवान् की वीतरागी मुद्रा सहज स्मित से विकस्वर हो उठी। अपने प्रथम शिष्य गौतम के सशय को उच्छिन्न करने के लिए उन्होने कहा—'धुवे इ वा'। गौतम को समाधान मिल गया। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की युगपत् समन्विति ही तत्त्व है। ससार का चेतन-अचेतन, चर-अचर, मूर्त-अमूर्त हर पदार्थ इस त्रयी के अक मे ही अपनी सत्ता को सुरक्षित रख पाता है। किसी भी पदार्थ मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है, तभी वह पदार्थ है। जिसमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य नही है, वह पदार्थ भी नही है।

भगवान् महावीर द्वारा निरूपित यह त्रिसूत्री इस रहस्य का उद्घाटन करती है कि योग और वियोग मे प्रसन्न और अप्रसन्न होने की कोई सगति नहीं है। उत्पाद के साथ व्यय का होना जरूरी है तो योग से साथ होने वाले वियोग को कैसे टाला जा सकता है ? जो व्यक्ति इस तत्त्व को समझ लेता है, वह महावीर के दर्शन को समझ लेता है, समत्व के दर्शन को समझ लेता है और सन्तुलन का पाठ पढ़ लेता है। भगवान् महावीर के दर्शन का सार यही है कि जब सारा ससार परिवर्तनशील है। 'का अरई, के आणदे', क्या निराशा और क्या आनन्द ! लाभ-अलाभ, सुख-दु.ख, जीवन-मरण, मान-अपमान—ये जीवन की विसगतियां नही हैं, वास्तविकताएं है। किन्तु इन्हे वही समझ सकता है, जिसे आत्मसाक्षात्कार हो जाता है अथवा किसी आत्मसाक्षात्कारी का अनुभव उपलब्ध हो जाता है।

भगवान् महावीर आत्मदर्शी थे, इसीलिए सर्वदर्शी थे। उन्होने अपनी आत्मा के हर रूप को देखा, इसीलिए उनकी आखो मे विश्व का हर रूप रूपायित हो उठा। उन्होने जिस त्रिपदी का निरूपण किया, वह शाश्वत सत्य का निरूपण था। विश्व के असन्तुलित और अव्यवस्थित लोक-जीवन को चिरकाल से इसी सत्य की प्रतीक्षा थी। वह सत्य ढाई हजार वर्ष से इस धरती और आकाश मे अनवरत प्रतिध्वनित हो रहा है। अपेक्षा है, हम उन ध्वनि तरगो को पकडें और अपनी विचार-तरगो के साथ उनका मेल-जोल करवा दे। यदि हम ऐसा कर सके तो हमारा युग एक बडी त्रासदी से छुटकारा पा सकता है। हम उस चिन्मय पुरुष भगवान् महावीर के प्रति सर्वभाव से प्रणत है, जिसके आत्मसाक्षात्कार ने धर्मतीर्थ की स्थापना की। उस तीर्थ के सहारे आगामी हजारो-हजारो वर्षों तक मानवजाति को आत्मदर्शन की दिशा उपलब्ध होती रहेगी।

यदि महावीर तीर्थंकर नहीं होते ?

जैनेन्द्रजी बहुत बार कहा करते है—'आपको तीर्थंकर होना चाहिए। आचार्य बनने से काम नही चलेगा।' जब-जब ऐसा प्रसग आता है तब मेरे सामने तीर्थंकर और आचार्य की भेद-रेखा स्पष्ट हो जाती है। तीर्थंकर जो कहते है, वही शास्त्र बन जाता है और जो करते है, वही विधि बन जाती है। आचार्य वही कहते हैं जो शास्त्र में लिखा है और वही करते है जो शास्त्र द्वारा विहित है। मैं कई बार सोचता हूं यदि महावीर तीर्थंकर नही होते तो उनके अनुयायी उन्हे अतीत मे कसकर रखते, आगे नही बढने देते।

१. भगवान् ऋषभ केवलज्ञानी नही हुए तब तक उन्होने अपने शिष्यो को उपदेश नही दिया। महावीर ने गोशालक के अनेक प्रश्नों के उत्तर दिए।

२. ऐसा माना जाता है कि तीर्थंकर केवली हुए बिना किसी को दीक्षित नही करते। महावीर ने गोशालक को दीक्षित किया और उसे पढ़ाया। महावीर तीर्थंकर थे, इसलिए वे इस अपेक्षा से मुक्त थे कि पूर्ववर्ती तीर्थंकरो ने क्या किया है।

३. स्कन्दक संन्यासी आ रहे थे। महावीर ने गौतम को इस बात की सूचना दी। गौतम उनके सामने गये और उनका स्वागत किया। वर्तमान धारणा के साथ इस घटना की सगति नही है। किन्तु तीर्थंकर शास्त्र-निरपेक्ष होते है, इसलिए वे देश-काल के औचित्य के अनुसार कार्य करने को स्वतन्त्र होते है।

४. महावीर जिस युग मे हुए, वह घोर जातिवाद का युग था। ब्राह्मण उच्च माने जाते थे और शूद्र नीच। चाडाल सर्वथा अछूत माने जाते थे। महावीर ने उन चाडालो को भी अपने सघ मे प्रव्रजित होने की छूट दी थी। वर्तमान की धारणा के सन्दर्भ मे सोचने वाले कुछ लोग कह देते हैं कि चाडाल मुनि हरिकेश अकेले रहते थे। उनका अन्य साधुओ मे सम्बन्ध नहीं था। क्या वे जैन शासन मे दीक्षित नही थे? क्या भगवान् महावीर के चौदह हजार

साधुओ मे नही थे ? वे अलग रहते थे, इसका कोई आधार है ? भगवान् महावीर जातिवाद के घोर विरोधी थे । आत्मौपम्य के सिद्धान्त की स्थापना करने वाला कोई भी अहिंसावादी जातिवाद का समर्थक हो नही सकता । महावीर के शासन मे न जाने कितने शूद्र और चाडाल दीक्षित हुए होगे । हरिकेश का नाम विशेष घटना के कारण उल्लिखित हो गया । औरो के साथ कोई विशेष घटना घटित न हुई हो अथवा उनका उल्लेख आज उपलब्ध न हो । महावीर यदि तीर्थंकर न होते तो उनके अनुयायी उन्हे ऐसा करने से अवश्य रोकते ।

५ अर्जुनमालाकार उपासना-प्रवण व्यक्ति था । वह यक्ष की बडी श्रद्धा से पूजा करता था । यक्ष उसकी पूजा से प्रसन्न था । एक घटना से उसका जीवनक्रम बदल गया । वह प्रतिदिन छह पुरुषो और एक स्त्री को मारने लगा । महीनो तक वह ऐसा करता रहा । एक दिन फिर मोड आया । वह सुदर्शन सेठ के साथ महावीर की शरण मे गया । महावीर ने उसे अपने धर्म-सघ की शरण मे ले लिया । ऐसे क्रूरकर्मा व्यक्ति को सहसा अपने साधु-सघ मे सम्मिलित कर लेना अतर्कित घटना थी । यदि महावीर आचार्य होते तो ऐसा करने से अवश्य झिझकते, किन्तु वे तीर्थंकर थे, इसलिए उन्हे वैसा करने मे कोई सकोच नही हुआ ।

भगवान् महावीर ने अपने श्रावको के लिए एक आचार-सहिता निश्चित की । उनमे निम्न आचरण निषिद्ध किये गये है .

१ आश्रित जीवो की आजीविका का विच्छेद न करना ।

२ कन्या के वैवाहिक सम्बन्ध मे झूठ न बोलना ।

३ भूमि, पशु आदि के विक्रय के सम्बन्ध मे झूठ न बोलना ।

४. धरोहर के विषय मे झूठ न बोलना ।

५. मिलावट न करना ।

६ असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु न देना ।

७. गुप्त बात का प्रकाशन न करना ।

इस आचार-सहिता मे सामाजिक बुराइयो का प्रतिषेध किया गया है । यदि महावीर आचार्य होते तो निश्चित ही उन पर यह आरोप लगाया जाता कि वे धर्म के मच से नीचे उतरकर सामाजिक मच के प्रवक्ता बन गये है । किन्तु वे तीर्थंकर थे, इसलिए उन्हे धर्म की भूमिका से नीचे नही लाया गया ।

महावीर सचमुच महावीर थे । तीर्थंकर होने के पश्चात् वे पूर्ण अभय थे । उनकी भय-विमुखता ने ही उन्हे महावीर बनाया था । यदि वे भयसकुल होते तो महावीर नही बन पाते । अभय का बीज अनासक्ति या अपरिग्रह है । यदि महावीर के मन मे शिष्यो और अनुयायियो का लोभ होता तो वे अभय नही हो

पाते। यदि महावीर के मन मे सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रशंसा की आसक्ति होती तो वे अभय नही हो पाते। अनगिन बार देवताओ ने उनके सामने नाटक किया पर उनका अन्तःकरण कभी उन नाटको से आकृष्ट नही हुआ। उनके सामने नाटक होते है, उसे लोग क्या समझेंगे, इस आशका से वे कभी विचलित नही हुए।

उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व की अनगिन घटनाए है। मैंने केवल इस ओर अगुलि-निर्देश किया हैं।

महावीर तीर्थंकर थे इसलिए वे विधि और निषेध मे स्वतन्त्र थे। यह स्वतन्त्रता सहज ही प्राप्त नही होती। इसके लिए बहुत खपना पड़ता है, बहुत तपना पडता है। जैन दर्शन के अनुसार तीर्थंकर मनुष्य ही होता है, वह कोई देव रूप में अवतार नही लेता। जिसकी साधना उच्च कक्षा मे पहुच जाती है, वह तीर्थंकर हो जाता है। न मालूम मैं इस भूमिका मे कब पहुच पाऊगा ? किन्तु मैं तीर्थंकर का अनुगामी अवश्य हूं। उनकी अनासक्ति और अभय मे मेरी आस्था है। उनका अभ्यास और प्रयोग भी करता हू। मैं महावीर की इस वाणी का सतत अनुगमन करता हूं कि 'सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपनी सत्यनिष्ठा से जो करता है उसमें असत्य का विष व्याप्त नही हो सकता।'

भगवान् महावीर और आध्यात्मिक मानदण्ड

भगवान् महावीर हिन्दुस्तान के महान् सपूत थे। उनका दृष्टिकोण भौगोलिक सीमा मे बंधा हुआ नही था। फिर भी हिन्दुस्तान को उन पर इसलिए गर्व है कि उसकी सीमा मे अवतरित हुए थे।

महावीर का जन्मकालीन नाम वर्द्धमान था। अमाप्य अभय और अपराजेय पराक्रम के कारण उनका गुणात्मक नाम महावीर हो गया। अभय और पराक्रम मानवीय जीवन के विशेष गुण है। गुणात्मक शक्ति का उपयोग अच्छाई की दिशा मे भी हो सकता है और बुराई की दिशा मे भी हो सकता है। महावीर ने अपनी शक्ति का स्रोत सत्य की शोध के लिए बहाया। इसलिए उनमे सबके प्रति समानता की मनोवृत्ति विकसित हुई।

साम्यभाव

महावीर की अहिसा मे विषमता के लिए कोई स्थान नही था। उस समय कुछ लोग धन के आधार पर बडे-छोटे माने जाते थे। कुछ लोग जातीयता के आधार पर बडे-छोटे माने जाते थे। किन्तु महावीर ने इन सभी मानदण्डो को मान्यता नही दी। वे निरन्तर इस सत्य की उद्घोषणा करते रहे कि मनुष्य-मनुष्य मे मौलिक एकता और समता है। उसे बाहरी उपकरणो के आधार पर विखण्डित और विभक्त नही करना चाहिए। महावीर ने पूनिया नामक एक साधारण गृहस्थ को इतना महत्त्व दिया कि सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक उससे समता की याचना करने गये। पूनिया पौन रुपये से अधिक संग्रह नही करता था, इसलिए उसका नाम पूनिया था। पूनिया रुई की पूनिया कातकर अपनी आजीविका करता था, इसलिए उसका नाम पूनिया था।

एक दिन महावीर ने पूनिया के साम्यभाव की प्रशसा की। उसे सुनकर सब लोग चकित थे। इतना अकिंचन व्यक्ति और महावीर की दृष्टि मे उसका इतना ऊचा स्थान। सम्राट् ने पूछा—'भते ! मैंने एक बार बहुत ही आसक्ति से हिंसा

की है। एक निरीह हिरनी जा रही थी। मैंने देखते ही वाण छोड दिया। उससे हिरनी और उसका गर्भस्थ वच्चा विध गया। वाण आगे जाकर भूमि मे घस गया। मुझे अपने कौशल पर बहुत गर्व हुआ। मैं उस कार्य मे अत्यन्त आसक्त हो गया। भते ! मुझे अनुभव हो रहा है कि उस आसक्ति से मैंने बुरे सस्कार अर्जित किये है। भते ! मै उसके परिणामो से बच सकता हू ? और यदि वच सकता हू तो कैसे ?

भगवान् ने कहा—'श्रेणिक ! आसक्ति के प्रगाढ़ परिणामो से वचना सभव नही है।'

'फिर भी कोई उपाय हो तो भते अवश्य बताने की कृपा करे।' श्रेणिक ने कहा।

भगवान् ने कहा—'श्रेणिक ! यदि पूनिया का साम्यभाव तुम खरीद सको तो उससे बच सकते हो।'

श्रेणिक ने सन्तोष की सास ली। उसे अपने वैभव पर भरोसा था। उसके द्वारा वह विश्व की किसी भी विभूति को खरीद सकता था। वह पूनिया के घर गया। सम्राट् का घर पर आना वहुत वडी वात थी, किन्तु पूनिया के लिए उसका कोई विशेष मूल्य नही था। सम्राट् ने पूनिया से कहा—'तुम धन्य हो, भगवान् ने तुम्हारे साम्यभाव की वहुत प्रशसा की है।' इस प्रशसा का भी उसके मन पर कोई प्रभाव नही हुआ। आखिर सम्राट् ने अपने मन की वात उसके सामने रख दी। सम्राट् ने कहा—'अपना साम्यभाव मुझे दो और वदले मे जितना चाहो उतना वैभव मुझसे ले लो।' पूनिया ने विनम्र स्वर में कहा—'सम्राट् ! आपका वैभव कितना है, सारी दुनिया के वैभव से भी साम्यभाव को नही खरीदा जा सकता।' यह सुन सम्राट् हतप्रभ-सा हो गया। पूनिया की आध्यात्मिक गरिमा के सामने सम्राट् अपने को छोटा अनुभव करने लगा। यह था महावीर का मानदण्ड, जो आध्यात्मिक नैतिक और चारित्रिक गरिमा की तरतमता के आधार पर व्यक्ति को बडा और छोटा वनाता था।

सत्य-निष्ठा

भगवान् महावीर की निष्ठा का अन्तिम स्पर्श सत्य था। उसका हर चरण उसी के परिपार्श्व मे टिकता था। एक वार उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम आनन्द के उपासनागृह मे गये। आनन्द ने कहा—'भते ! मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है। मैं बहुत दूर तक पदार्थो का साक्षात् कर रहा हू।' गौतम ने कहा—'आनन्द ! गृहस्थ को इतना बड़ा प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो सकता। तुम इस मिथ्या-भाषण के लिए प्रायश्चित्त करो।' आनन्द वोला—'भते ! प्रायश्चित्त किसे करना चाहिए—यथार्थभाषी को या अयथार्थभाषी को ?' गौतम ने कहा—'अयथार्थभाषी को।'

'तो भते ! आप ही प्रायश्चित्त करे । आप भगवान् के पास जाए और इसका निर्णय ले ।'

गौतम महावीर के पास आए । उन्होने आनन्द के साथ घटित घटना भगवान् के सामने रखी । भगवान् ने उत्तर दिया—'गौतम ! आनन्द सही है, तुम भूल पर हो । जाओ, उससे क्षमा-याचना करो ।' गौतम उन्ही पैरो लौटे और वहा जाकर आनन्द से क्षमा मागी । कहा चौदह हजार शिष्यो मे प्रधान शिष्य गौतम और कहा गृहस्वामी आनन्द ! महावीर के सामने गृहस्थ और मुनि का प्रश्न नही था । उनके सामने प्रश्न था सत्य का । सत्य से दूर रखकर वे गौतम को गौतम की गरिमा नही दे पाते । इसीलिए उन्होने सत्य के सामने प्रधान शिष्यत्व को प्राथमिकता नही दी ।

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण

सत्य के प्रति महावीर का दृष्टिकोण अनेकान्तवादी था । वे सत्य के अनन्त रूपो की व्याख्या अनन्त दृष्टिकोणो से करते थे । कौशाम्बी के शासक शतानीक की बहन जयती ने भगवान् से पूछा—'भते ! जीवो का सक्षम होना अच्छा है या अक्षम होना ?'

भगवान ने कहा—'जयती ! कुछ जीवो का सक्षम होना अच्छा है और कुछ जीवो का अक्षम होना अच्छा है ।'

जयती—यह कैसे, भते ?

भगवान् बोले—'अहिसा मे विश्वास रखने वाले जीवो का सक्षम होना अच्छा है और शस्त्र-प्रयोग मे विश्वास रखने वाले जीवो का अक्षम होना अच्छा है ।'

अणु-शक्ति का भय इसलिए है कि उस पर उन लोगो का अधिकार है, जिनका विश्वास हिसा मे है । अहिसा मे निष्ठा रखने वाले लोग अणु-शक्ति का उपयोग मानवहित के लिए कर सकते है, किन्तु दूसरो को भयभीत करने के लिए नही कर सकते । भय की सृष्टि उन्ही लोगो ने की है, जिनके हाथ मे सहारक शक्ति है और जो उसका उपयोग करने के लिए कृत-सकल्प है । वर्तमान समस्या का समाधान इसी मे है कि शक्ति-सतुलन अहिसक हाथो मे आए ।

व्यवहार के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण

महावीर अहिसा की भाषा मे बोलते थे । हिसा की भाषा मे बोलना उनके लिए सभव नही था । फिर भी उन्होने व्यवहार के लोप का प्रतिपादन नही किया । हिसा के तीन मुख्य प्रकार है ·

१. आरभजा—खेती, व्यवसाय आदि में होने वाली हिंसा।
२. विरोधजा—आक्रमण से अपनी सुरक्षा करने में होने वाली हिंसा।
३. संकल्पजा—प्रमाद, साम्राज्य-लिप्सा आदि कारणो से होने वाली हिंसा।

महावीर ने कहा—गृहस्थ के लिए सकल्पजा हिंसा आक्रामक है, इसलिए वह अवश्य वर्जनीय है। बहुधा कुछ लोगो द्वारा यह कहा जाता है कि अहिंसा ने हिन्दुस्तान को कायर बना दिया। किन्तु मुझे लगता है कि इस उक्ति मे सचाई का अंश नही है। अहिंसक व्यक्ति कायर नही हो सकता। पारस्परिक हिंसा, भय, सन्देह और फूट से मनुष्य कायर बनता है। गुजरात का एक सेनापति जैन धर्म में विश्वास करता था। राजा अपने देश से बाहर था। पीछे से शत्रु ने आक्रमण कर दिया। युद्ध की तैयारी हो रही थी। संध्या के समय रणभूमि मे बैठकर सेनापति प्रतिक्रमण कर रहा था। वह एक इन्द्रिय वाले सूक्ष्म जीवो को भी न मारने का सकल्प दोहरा रहा था। सेना अधिकारियो ने उसे सुना। वे महारानी के पास गये। सारी घटना कह सुनाई। महारानी ने सेनापति को बुलाकर पूछा। उसने कहा, 'यह सही है। तुम्हारे मन मे अहिंसा का इतना संकल्प है तब तुम कैसे लड़ोगे ? हमारी सेना विजयी कैसे होगी ?' महारानी ने जिज्ञासा की। सेनापति ने विनम्र स्वर मे उत्तर दिया—'देवि ! क्षमा करना। मैं जैन-धर्म मे विश्वास करता हूं। महावीर की वाणी मुझे शिरोधार्य है। मैं अनावश्यक रूप से एक इन्द्रिय वाले जीवो की भी हिंसा करना नही चाहता और यदि वह हो जाती है तो उसके लिए प्रायश्चित करता हू। देश की सुरक्षा के लिए जो आवश्यक होगा, वह मेरा कर्त्तव्य है। उस कर्त्तव्य की पालना के लिए मैं जी-जान से लड़ूगा।' महारानी को उसके शौर्य पर पहले ही विश्वास था और उसकी सैद्धान्तिक दृढता से वह बहुत प्रभावित हुई। सेनापति के सफल नेतृत्व मे सेना बड़े प्रभावी ढग से लडी। शत्रु की सेना परास्त हो गई।

महावीर की अहिंसा मे क्रमिक विकास के लिए अवकाश है। मुनि के लिए उन्होने अहिंसा के महाव्रत का विधान किया। किन्तु गृहस्थ के लिए अहिंसा के अणुव्रत का विधान है। हिन्दुस्तान ने अनाक्रमण की नीति अपनाकर महावीर की गृहस्थोचित अहिंसा की पुनर्घोषणा की, ऐसा मैं अनुभव करता हूं।

लोकतन्त्र की आधारभूमि अहिंसा और अनेकान्त है। लोकतन्त्र के नायको मे सबको विकास का समान अवसर देने व दूसरो के विचारो के प्रति न्याय करने की भावना प्रबल होने पर ही वह सफल होता है, अन्यथा नहीं।

संयम की शक्ति

महावीर संयम-प्रधान व्यक्ति थे। वैसे तो संयम भारतीय साधना का सामान्य तत्त्व है। सभी धर्माचार्यो ने उसका मूल्याकन किया है। महावीर ने उसे अपनी साधना मे मुख्य स्थान दिया था। उन्होने अहिसा को इसी सदर्भ मे स्वीकार किया कि वस्तुतः अपना सयम करना ही अहिसा है। समस्याओ के समाधान के लिए अनेक योजनाए और अनेक दृष्टिकोण है। किन्तु सयम की योजना और उसके दृष्टिकोण के अभाव मे वे सफल नही होती। सयम की शक्ति का स्फोट होने पर कुछ कल्पनातीत बातें भी संभव बन जाती है।

मैं केवल अतीत मे विश्वास नही करता। उसके आलोक मे हम अपने पथ को देख सकते है। उसे देख लेना ही पर्याप्त नही है। उन पर चले बिना मजिल की दूरी तय नही होती। मेरा विश्वास वर्तमान पर अधिक है। पूर्वजो की स्मृति का अर्थ अतीत और वर्तमान का सामजस्य होना चाहिए। महावीर की स्मृति का अर्थ है पराक्रमी होना। महावीर की स्मृति का अर्थ है विषमता के विष-वृक्षो को जड से उखाड फेकना। महावीर की स्मृति का अर्थ है सत्य-शोध के लिए विनम्र और उदार दृष्टिकोण अपनाना। महावीर की स्मृति का अर्थ है सयम की शक्ति का स्फोट करना।

महावीर जयती के अवसर पर भगवान् महावीर के जीवन पर प्रकाश डालना सचमुच मेरे लिए आनन्द का विषय है। मुझे विश्वास है कि जनता मेरी आनन्दानुभूति मे सभागी होगी।

मानव-मानव का धर्म : अणुव्रत

नैतिक और सास्कृतिक मूल्यो की खोज करने वाला समाज प्रकाश की खोज करता है, अमृत की खोज करता है और आनन्द की खोज करता है। जिस समाज मे नीति और सस्कृति का वर्चस्व है, वह समाज उन्नत एव समृद्ध समाज है। उन्नति और समृद्धि का मानदण्ड बडे-बडे भवन, मिलें, कारखाने या लम्बी-चौडी सडके नही होती, उसका मानक है नीति और सस्कृति से भरा हुआ लोक-जीवन।

भारतीय लोक-जीवन को नैतिक और सास्कृतिक मूल्य विरासत मे मिले हुए है। विरासत मे प्राप्त मूल्यो की सुरक्षा और विकास का दायित्व वर्तमान पीढी पर होता है। भारत की वर्तमान पीढी के सामने एक जीवित और प्रतीक्षातुर सन्नाटा छाया हुआ है। उसके सामने एक ओर है अपने पुरखो द्वारा बोयी गयी नीति की फसल तथा दूसरी ओर है दूर-दूर तक फैला हुआ नैतिक मरुस्थल। उस मरुस्थल मे नीति की लहर लाने के लिए दृढ सकल्प और तीव्र प्रयत्न की अपेक्षा है। सकल्पहीनता एव अकर्मण्यता जीवन के लिए अभिशाप है। जिस समाज या देश मे सकल्पहीन और अकर्मण्य व्यक्तियो की सख्या बढने लगती है, उसकी प्रगति के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

आज से चार दशक पहले तक भारतवर्ष राजनैतिक दासता के घेरे मे बदी था। देश के अधिसख्य लोगो ने उस दासता को सहज भाव से अपने ऊपर ओढ लिया था। उनके मन मे भारत को स्वतन्त्र देखने का न तो कोई स्वप्न था और न कोई सकल्प। कुछ चेतनाशील युवको मे अन्तर्द्वन्द्व जगा। उन्होने देश को दासता की गिरफ्त से मुक्त करने का सकल्प किया और वे अहिंसक शक्ति का आलम्बन लेकर मैदान मे उतर आये। वर्षो तक शारीरिक और मानसिक यातना भोगकर भी उन्होने हिंसा का सहारा नही लिया। आखिर अहिंसा की जीत हुई, भारत स्वतत्र हुआ और भारतीय जनता स्वतत्रता की खुशियो मे झूम उठी। अणुव्रत आन्दोलन का इतिहास काल के उसी बिन्दु पर जाकर रुकता है।

अणुव्रत का लक्ष्य है—व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन मे पनपने वाली बुराइयो को दूर कर एक नीतिमान और चरित्रनिष्ठ पीढी का निर्माण। इसकी सरचना असाम्प्रदायिक और मानवीय दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि पर की गयी है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् सकल्प और सम्यक् आचरण—अणुव्रत का कार्यक्रम है। यह अपराध-चेतना को बदलने का आन्दोलन है। अपराधी मनोवृत्ति का शोधन इसे अभीष्ट है। इसके लिए यह किसी दण्ड या कानून से भी अधिक महत्त्व हृदय-परिवर्तन को देता है। इसमे देश, काल, परिस्थिति, जाति और मजहब आदि को गौण कर सर्व-धर्म-सम्मत तत्त्वो का समाकलन किया गया है। नि शस्त्रीकरण, मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक कुरीतियो का बहिष्कार, व्यसन-मुक्ति और नैतिक मूल्यो की स्थापना इस युग की समस्याओ का सीधा समाधान है। अणुव्रत मनुष्य को यही समाधान देने का उपक्रम है।

अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन एक सुचिन्तित विचार-यात्रा की निष्पत्ति है। उस यात्रा के कुछ विचार-बिन्दु ये है—

धर्म और सम्प्रदाय एक नही है। यह एक मान्यता है। किन्तु सम्प्रदायविहीन धर्म का कोई रूप नही है।

धर्म के दो रूप है—चरित्र और उपासना। चरित्र का पालन कठिन है, उपासना की प्रक्रिया सरल है। फिर भी चरित्र मुख्य है और उपासना गौण है। उस चरित्र-प्रधान धर्म को उपासना-प्रधान बनाकर मनुष्य क्रियाकाडो मे ही उलझ रहा है। इससे धर्म रूढ बन रहा है और उसका प्रायोगिक रूप विस्मृत हो रहा है।

धर्म के क्षेत्र मे भय और प्रलोभन को स्थान नही है। नरक का भय और स्वर्ग का प्रलोभन यदि इसी प्रेरणा से धर्म का आचरण किया जाता है तो इससे वर्तमान को क्या लाभ मिलेगा? वर्तमान जीवन की शुद्धि के अभाव मे परलोक सुधार के रगीन सपने मन को कब तक आश्वस्त करते रहेगे।

धर्म पर किसी जाति, प्रान्त, वर्ग या मजहब का आधिपत्य नही होना चाहिए। धर्म की प्रभुसत्ता अखण्ड है। जब-जब उसे बाटने का प्रयत्न होता है, धर्म के नाम पर सघर्ष खड़े हो जाते है। इस आत्मघाती स्थिति से बचने के लिए धर्म को सब सीमाओ से मुक्त रखना चाहिए।

कुछ ऐसी जातिया है, जिनका कोई धर्म ही नही है। शास्त्रो की दुहाई देकर उन्हे धार्मिक अधिकारो से वचित रखा जाता है। ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो का अपना धर्म है, पर उन तथाकथित धार्मिको के अनुसार शूद्रो का कोई धर्म ही नही है। क्या कोई ऐसा धर्म नही हो सकता, जो मानव मात्र को गले लगाकर उसका मार्गदर्शन कर सके।

मनुष्य दिन भर करणीय और अकरणीय का भेद किये बिना कर्म करता

रहता है क्योकि उसके सामने सबसे बड़ा आलम्बन है 'धर्म-स्थान'। बुरे से बुरा काम करने वाला भी मन्दिर, मस्जिद, चर्च आदि धर्म-स्थानो मे जाता है, पूजा-पाठ करता है और सोचता है कि मेरे सारे पाप धुल गये। यह धर्म और भगवान के साथ खिलवाड़ है। क्या कोई ऐसा धर्म नही हो सकता, जो व्यक्ति के इस भ्रम को तोड़कर उसे अपने प्रति प्रामाणिक बना सके ?

इन्हीं सब बातो की परिक्रमा करते-करते अणुव्रत की परिकल्पना सामने आ गयी। अणु और व्रत—इन दो शब्दो के योग से अणुव्रत बना है। अणु का अर्थ है सूक्ष्म और व्रत का अर्थ है सकल्प। संकल्प कितना ही सूक्ष्म या छोटा क्यो न हो, उसकी शक्ति असीम है। अणुबम के इस युग मे अणुव्रत जैसे धर्म की ही अपेक्षा थी। आकार मे सूक्ष्म होने पर भी अणुबम एक शक्ति-सम्पन्न अस्त्र है। इसी प्रकार अणुव्रत मे भी असीम शक्ति है। यह दूसरी बात है कि अणुबम की शक्ति विध्वंसात्मक है और अणुव्रत की शक्ति सृजनात्मक है। अणुबम मानवजाति का संहारक है, जब कि अणुव्रत मानव-जीवन का निर्माता है।

अणुव्रत एक धर्म है, किन्तु इसके पीछे कोई सम्प्रदाय नही है। सभी सम्प्रदायों के लोग इसे अपना धर्म मानते हैं, किन्तु इस पर किसी सम्प्रदाय विशेष की मुद्रा नही है।

अणुव्रत मे उपासना का तत्त्व गौण है और चरित्र की प्रधानता है। यह धर्म को रूढ़ियों और आडम्बरो के घेरे से मुक्त कर प्रयोग का धरातल देता है।

अणुव्रत वर्तमानजीवी है। यह परलोक-सुधार का आश्वासन नही देता है, पर इस जीवन को शान्त, स्वस्थ एवं सुखमय बनाने का दिशादर्शन देता है।

अणुव्रत जाति, प्रान्त, भाषा आदि सकीर्णताओ से जकडा हुआ नही है। इसका द्वार मानव मात्र के लिए खुला है। कोई भी मनुष्य अणुव्रती बनकर सही अर्थ में मनुष्य बन सकता है।

अणुव्रत का धर्म-स्थान है व्यक्ति का कार्यक्षेत्र। कोई व्यक्ति मन्दिर, मस्जिद आदि धर्म स्थानो में जाए या नही, उपासना करे या नही, पर अपने कर्म के प्रति ईमानदार रहे, यही उसकी धार्मिकता है।

बढ़ती हुई आकाक्षाएं दुःख का प्रमुख कारण हैं। अणुव्रत ने आकाक्षाओं को सीमित करने का मार्गदर्शन देते हुए एक घोष दिया—'संयम खलु जीवनम्'— संयम ही जीवन है। इस आदर्श की स्वीकृति जीने की सबसे बड़ी कला है।

अणुव्रत एक मानवीय आचार-संहिता है। मुख्य रूप से इसकी जितनी धाराएं हैं, उनका सम्बन्ध वर्तमान परिस्थितियो और जीवन की शुद्धि के साथ है। देश मे बढ़ रही हिंसा को नियन्त्रित करने और अनाक्रमण के सिद्धान्त को अपनाने के लिए इसकी धाराएं हैं—

चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी की हत्या नही करना।

आक्रमण नही करना, आक्रामक नीति का समर्थन नही करना।

हिंसात्मक उपद्रवो एव तोडफोडमूलक प्रवृत्तियो मे भाग नही लेना।

मानवीय एकता मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही अणुव्रती बन सकता है। इस दृष्टि से उसकी दो धाराए है—

जाति, वर्ण आदि के आधार पर किसी को अस्पृश्य या उच्च-नीच नही मानना।

सम्पत्ति, सत्ता आदि के आधार पर किसी को छोटा-बडा नही मानना।

अणुव्रत कोई सम्प्रदाय नही है, वह सब धर्मों के प्रति आदरभाव रखने की प्रेरणा देता है। इस सन्दर्भ मे इसकी एक धारा है—

सब धर्म-सम्प्रदायो के प्रति सहिष्णुता रखना।

राजनीतिक बुराई को दूर करने के लिए अथवा लोकतान्त्रिक मूल्यो की प्रतिष्ठा के लिए अणुव्रत के सूत्र है—

रुपये तथा अन्य प्रलोभन से मत (वोट) न लेना और न देना।

रिश्वत नही लेना।

व्यवसाय के क्षेत्र मे प्रामाणिक रहने के लिए अणुव्रत की आचार-सहिता है—

किसी वस्तु मे मिलावट नही करना, नकली वस्तु को असली बताकर नही बेचना।

तोल-माप मे कमी-बेशी नही करना।

तस्करी नही करना।

सामाजिक कुरूढ़ियो का बहिष्कार करने के लिए अणुव्रत का कार्यक्रम है—

विवाह के प्रसग मे दहेज का ठहराव नही करना।

बाल विवाह, वृद्ध विवाह, मृत्युभोज जैसी परम्पराओ को प्रश्रय नही देना।

व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता के लिए अणुव्रत ने व्यसन-मुक्ति का अभियान चलाया। इसके अन्तर्गत एक सकल्प है—

मादक व नशीले पदार्थो का सेवन नही करना।

लोक-जीवन को सस्कारी बनाने मे अणुव्रत की जो भूमिका रही है, उसे देखते हुए इमे मानव-धर्म की अभिधा दी जा सकती है। यह जीवन का समग्र दर्शन है। अणुयुग की विभीषिका से सत्रस्त मानवजाति को आज एक घोष की अपेक्षा है और वह घोष यह हो सकता है—

'अणुबम नही, अणुव्रत चाहिए।'

अणुव्रत की शीतल छाया के नीचे मानवजाति अपना नया इतिहास लिखे और भावी पीढी के लिए एक ऐसी स्वस्थ यादगार छोड जाए, जो उसको युग-युग तक दिशा-दर्शन देती रहे, यह अपेक्षा है।

अणुव्रत की क्रांतिकारी पृष्ठभूमि

संसार मे दो प्रकार के व्यक्ति है। प्रथम कोटि के व्यक्ति वे है, जो अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना चाहते है। दूसरी कोटि मे वे व्यक्ति आते है, जो अन्धकार मे जीते है और अन्धकार मे ही जीना पसन्द करते है। ऐसे व्यक्तियो के जीवन मे कोई क्रान्ति घटित नही हो सकती। क्रान्ति की बात वहा पैदा होती है, जहा अन्धकार को छोड आलोक की यात्रा पर प्रयाण किया जाता है। व्यक्ति और विचार, दोनो स्तरों पर प्रयाण की संगति बैठ सकती है।

क्रान्ति दो तरह की होती है। सीधी समतल सडक पर सपाट गति की तरह एक क्रान्ति आती है और घुमावदार ऊबड-खावड रास्तो पर कुछ झटको को महसूसते हुए दूसरी तरह की क्रान्ति आती है। सपाट गति मे कोई घटना नही होती, इसलिए उसमे कोई अप्रत्याशित परिवर्तन नही आता। कोई भी अघटना हमारी स्थूल आंखो की पकड मे नही आ सकती। फिर भी उसमे धीरे-धीरे जो परिवर्तन आता है, वह समाज की तसवीर को ही बदल देता है। आकस्मिक रूप से किसी भी मोड पर कोई झटका लगता है, उसमे एक बार तो बहुत बडा परिवर्तन-सा प्रतीत होता है। किन्तु उसके स्थायित्व के बारे मे आश्वस्ति नही मिलती। बहुत-सी क्रान्तिया इसीलिए अर्थहीन हो जाती हैं कि वे क्षणिक चमत्कार दिखाकर अपने प्रभाव को समाप्त कर देती हैं। कुछ घटनाए स्थायी भी हो जाती है, किन्तु यह सब निर्भर करता है, समकालीन परिस्थितियो और जनता की मनःस्थितियो पर।

हिंसा और भ्रष्टाचार की धधकती हुई ज्वाला मानवीय मूल्यो को जिस रूप में भस्मसात कर रही है, यह एक बडी घटना है। इसके प्रतिबिम्ब बहुत लोगो की आखो मे हैं। इसका परिणाम एकदम सामने आता है, इसलिए इसकी त्रासदी भयावह है किन्तु अणुव्रत की चिनगारी ने अपनी पैंतीस वर्षो की गुमनाम-सी जिन्दगी मे चुपचाप जो काम किया है, वह किसी की दृष्टि का केन्द्र बने या नही, पर ईमानदारी का तकाजा है कि अहिंसा, शान्ति, पवित्रता और चरित्र के क्षेत्र मे

नयी धारा के उद्‌गम अणुव्रत का समुचित मूल्यांकन हो और इसी दृष्टि से उसके विगत कर्तृत्व और भावी सभावनाओ पर एक तटस्थ किन्तु आलोचनात्मक अध्ययन किया जाए।

चरित्र-निर्माण का आन्दोलन

अणुव्रत एक आन्दोलन है, इसलिए यह गत्यात्मक है। अणुव्रत चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया है, इसलिए इसमे स्थितिपालकता भी है। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे एक नीतिमान पीढी के निर्माण का सपना था। यह स्वप्न देखा था हमने सन् १९४९, छापर चातुर्मास मे। उस समय भारत स्वतत्र हुआ था। भारतीय लोग स्वतत्रता की खुशी मे झूम रहे थे। उस समय उनके सामने कोई लक्ष्य नही था, दिशा नही थी, महत्त्वाकाक्षा नही थी और साधन-सामग्री भी नही थी, जिसके द्वारा वे बेहतर जिन्दगी जीने की बात सोच सके। उस समय एक ऐसे सचेतन प्रयास की जरूरत थी, जो व्यक्ति-व्यक्ति को मानसिक रूप से स्वायत्तता की अनुभूति देकर अपनी खोयी हुई अस्मिता और नैतिक मूल्यो का बोध करा सके। इस दृष्टि से दूसरे लोग भी सतर्क रहे होगे। उनके मन मे अपने देश की मिट्टी मे ऐसे बीज बोने की इच्छा जगी होगी, जो नैतिक मूल्यो की फसल उगा सके। हमारे मन मे उस समय कोई बहुत बडी कल्पना और योजना नही थी, पर एक सुचिन्तित प्रक्रिया के आधार पर थोडे से कार्यकर्त्ताओ के साथ सरदारशहर की धरती पर हमने अपना अभियान शुरू कर दिया।

नैतिक उन्नति का आधार है नैतिक विचार। विचार से आचार प्रभावित होता है और आचार का प्रभाव विचारो पर होता है। विचार और आचार की समन्विति ही जीवन है। किन्तु विचार जगत् मे उथल-पुथल मचे बिना आचरण की बात पैदा नही हो सकती। इसलिए अणुव्रत ने सबसे पहले विचार-क्रान्ति की ओर ध्यान केन्द्रित किया। अणुव्रत का एकमात्र उद्देश्य है जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा, प्रान्त और धर्मगत सकीर्णताओ से ऊपर उठकर मानव मात्र को आत्म-सयम और नैतिक मूल्यो के प्रति प्रेरित करना। जिस समय जातीयता, प्रान्तीयता, वर्ण-व्यवस्था, भाषा आदि को लेकर सकीर्ण मनोवृत्ति वाले लोगो मे एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था, उस समय अणुव्रत ने मानवतावादी दृष्टिकोण देकर लोकजीवन मे चारित्रिक मूल्यो को प्रतिष्ठा देने का सकल्प व्यक्त किया। इस सकल्प की पूर्ति के लिए अणुव्रत-यात्राओ का दौर प्रारम्भ हुआ। हमारे पास गृहस्थ कार्यकर्ता सीमित थे, इसलिए हमने अपने साधु-साध्वियो को इस दृष्टि से तैयार किया। उनकी पद-यात्रा का विस्तार हुआ। कश्मीर से कन्याकुमारी तक अणुव्रत के कार्यक्रम होने लगे। जनता ने पूरी गहमागहमी के साथ उनका स्वागत

आचार के क्षेत्र मे अणुव्रत ने जो काम किया है, उसके सब आकडो का सर्वांगीणता के साथ प्रस्तुतीकरण हो तो वह ससार की एक नयी घटना हो सकती है। किन्तु अणुव्रत-कार्य का संपूर्ण आकलन न होने के कारण उसका पूरा विवरण प्राप्त करना सभव नही है। फिर भी साधारण रूप मे एक विहगावलोकन किया जाए तो कुछ निष्कर्ष इस रूप मे निकलते है

- मानवीय एकता का विकास।
- सहअस्तित्व की भावना का विकास।
- समाज मे सही मानदण्डो का विकास।
- साम्प्रदायिक सद्भावना का विकास।
- राष्ट्रीय चरित्र का विकास।
- धर्म के क्रान्तिकारी स्वरूप का विकास।

राष्ट्रीय चरित्र के सन्दर्भ मे तीन बातें महत्त्वपूर्ण है :

- राजनैतिक बुराइया।
- सामाजिक कुरूढ़िया।
- दुर्व्यसन।

राजनीति से अलिप्त रहकर भी अणुव्रत ने राजनीति पर अपना प्रभाव छोडा है। दलबदल की नीति, स्वार्थपरता और वोटो के विक्रय पर अणुव्रत ने जितना तीखा प्रहार किया है, शायद ही किसी आन्दोलन ने किया हो। ससदीय अणुव्रत मच द्वारा आयोजित कार्यक्रम मे सासदो को जो खरी-खरी बातें सुनने को मिली, उनकी पलकें झुक गयी। उस वातावरण ने वहा उपस्थित सभी सासदो को अपना आत्मनिरीक्षण करने के लिए विवश कर दिया।

सामाजिक कुरूढियो से समाज इतना जर्जर और सत्वहीन बन जाता है कि वह युग की किसी चुनौती को झेल ही नही सकता। अज्ञान और अन्धविश्वासो के चौखटे मे पनपने वाली न जाने ऐसी कितनी कुरूढिया है, जो सामाजिक विकास के आगे बाधाए बनकर खडी हो जाती हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के ऐसे कौन-से प्रसग है, जिनसे सबधित कुरूढिया समाज की पीडा नही है? आर्थिक दृष्टि से बोझिल और अर्थहीन रूढ परम्पराओ के खिलाफ अणुव्रत के बगावती चरण आगे बढ़े। फलत आज भारत की धरती पर अणुव्रत से सस्कारित परिवारो मे अशिक्षा, पर्दा, मृत्युभोज, मृत्यु के प्रसग मे प्रथा रूप मे रोना, बालविवाह, वृद्ध-विवाह, विधवा स्त्री अवमानना आदि परम्पराए चरमराकर टूट गयी है। दहेज और प्रदर्शन की समस्या आज भी ज्वलन्त है। अणुव्रत इस दिशा मे भी सतर्क है। अणुव्रती परिवारो मे दहेज का ठहराव किसी भी स्थिति मे नही होता। इसके साथ-साथ सैकड़ो-सैकडो युवक-युवतियो ने हजारो लोगो की साक्षी से यह

किया और अणुव्रत आन्दोलन भारतवर्ष मे चलने वाले नैतिक आन्दोलनो मे शीर्षस्थ बन गया।

वह समाज और देश सौभाग्यशाली होता है, जिसमे मानवता या नैतिकता की चर्चा होती रहती है। वे लोग भी कम सौभाग्यशाली नही होते, जिन्हे ऐसी चर्चा सुनने के अवसर उपलब्ध होते है। उन लोगो का सौभाग्य और अधिक होता है, जिनको ऐसी चर्चाओ की प्रस्तुति करने का मौका मिलता है। अणुव्रत आन्दोलन विशुद्ध अर्थ मे नैतिक आन्दोलन है। एक दृष्टि से यह आत्मदर्शन का आन्दोलन है। सामाजिक सन्दर्भो मे यह अपराध-चेतना को बदलने का आन्दोलन है। अणुव्रत परिणाम से अधिक प्रवृत्ति की चिन्ता करता है। प्रवृत्ति नही रहेगी तो परिणाम अपने आप समाप्त हो जाएगा। हमारे समाज या देश मे अपराध बढ रहे हैं, यह जितनी चिन्ता का विषय है, उससे अधिक चिन्तनीय बिन्दु यह है कि अपराध क्यों बढ़ रहे है। अपराध के कारणो को समझकर उनकी रोकथाम के लिए प्रयत्न हो तो नैतिक मूल्यो का अवतरण अपने आप सभव है।

कोई व्यक्ति अपने जीवन को मुडकर देखे और चिन्तन करे—मैं कैसा हू, इस एक वाक्य पर गहरी अनुप्रेक्षा करते-करते वह ईमानदारी के साथ अपनी आदतो और व्यवहारों को समझ सकता है तथा गलत आदतो एवं व्यवहारो मे परिष्कार कर सकता है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् सकल्प और सम्यक् आचरण—अणुव्रत का यह त्रिसूत्री कार्यक्रम व्यक्ति के जीवन मे अकल्पित क्रान्ति ला सकता है। व्यक्तिगत और सामूहिक रूप मे अनेक लोगो ने ऐसा अनुभव किया है।

क्रान्ति के चरण

अणुव्रत ने विचार और आचार—दोनों क्षेत्रो मे क्रान्ति के बीज बोये हैं। जहा-जहा वे बीज अकुरित हुए है, अणुव्रत के प्रति लोगो का दृष्टिकोण बदला है। वैचारिक दृष्टि से अणुव्रत की भूमिका काफी सशक्त है। हर समझदार और विवेकी व्यक्ति इसकी उपयोगिता से सहमत है। अपने आपको नास्तिक मानने वाले लोग भी अणुव्रत की नीति और आचार-सहिता से प्रभावित है। क्योकि अणुव्रत ने युग की चुनौतियो का सामना कर समाज मे चरित्र की प्रतिष्ठा की है। अणुव्रत की आस्था व्यक्ति-निर्माण मे है। व्यक्ति जितना नैतिक और आचारनिष्ठ होगा, समाज उतना ही उन्नत, सस्कृत और समृद्ध होगा। व्यक्ति की आचार-निष्ठा और नैतिकता का जीवन्त साक्ष्य होता है उसका अपना मन और व्यवहार। यदि वह चरित्र को सर्वाधिक मूल्य देता है तो किसी भी स्थिति मे अवाछनीय तरीको से व्यवसाय नही करेगा। यदि वह चरित्र को अपना जीवन मानता है तो सत्यनिष्ठा और श्रमनिष्ठा से कतराकर अपने स्वीकृत सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ नहीं करेगा।

संकल्प स्वीकार किया है कि वे जीवन भर कुवारापन ओढकर रह सकेंगे, पर जहा दहेज की माग होगी, वहां शादी नही करेंगे।

विवाह आदि प्रसंगो पर होने वाले आडम्बर और अपव्यय पर नियन्त्रण करने के लिए अणुव्रत भावना से प्रेरित सस्थाओ ने समाज मे जैन सस्कार विधि का प्रचलन किया। इससे आडम्बरहीन शादियो का सिलसिला शुरू हो गया। ऐसी शादिया दिन मे होती है, फलस्वरूप वहुत सारे अपव्ययो से सहज ही बचाव हो जाता है। इन शादियो मे न दहेज की मांग होती है और न ही होता है ठहराव। इससे समाज के मूल्य-मानको मे भी तीव्रता के साथ परिवर्तन आ रहा है।

हर प्रदेश और समाज की अलग-अलग रूढिया होती हैं। अणुव्रत के कार्यकर्ता उनका अध्ययन कर उनके निराकरण मे सलग्न हैं। जिस दिन समाज मे किसी प्रकार की रूढि नही रहेगी और नये सिरे से जन्म लेने वाली रूढि को पनपने का अवसर नही मिलेगा, वह दिन अणुव्रत के इतिहास मे विशिष्ट दिन होगा।

अणुव्रत का एक अभियान है—व्यसन-मुक्ति। कुछ लोगो की दृष्टि मे मादक तथा नशीले पदार्थो का सेवन सास्कृतिक उच्चता, सभ्यता और स्टैण्डर्ड लाइफ का प्रतीक है। किन्तु यह वास्तविकता नही है। ऐसे पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति अपनी उच्चता, सभ्यता और स्तर को विवादास्पद बना लेते हैं। मादक पदार्थ शरीर, मन और मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव छोडते ही है, धार्मिक या आध्यात्मिक दृष्टि से भी उनके उपयोग का कोई औचित्य नही है। अणुव्रत ने व्यक्तिगत और सामूहिक रूप मे व्यसन-मुक्ति के लिए व्यापक अभियान चलाया। इस अभियान मे हजारो व्यक्ति शराव, सिगरेट, अफीम, जुआ आदि दुर्व्यसनो की गिरफ्त से मुक्त हुए। इससे उनको अन्य लाभो के साथ आर्थिक लाभ भी मिलता है। अतिमात्रा मे शराव, सिगरेट, अफीम आदि का सेवन करने वाले लोग जब इनको छोड़ देते है, तव उनके परिवार मे जो खुशी होती हे, वह अनिर्वचनीय होती है।

युवा पीढी पर प्रभाव

आज के धर्मनेताओं और धार्मिक बुजुर्गों को युवा पीढी की धर्मनिरपेक्षता पर बडी चिन्ता है। उनकी दृष्टि मे यह समय का दोप है, शिक्षा का दोप है और सस्कारो का दोष है। किन्तु मैं इस स्थिति को लेकर कभी चिन्तित नही होता। मेरे अभिमत से युवा पीढी को धर्म से नही, धर्म के नाम पर चलने वाले ढकोसलो से परहेज है। वह चरित्र का नही, रूढ क्रियाकाण्डो का विरोधी है। अणुव्रत ने धर्म को जिस रूप से व्याख्यायित और निरूपित किया है, कोई भी युवा उसमे

विमुख नही हो सकता। यही कारण है हमारी धर्म-सभाओ मे सैकड़ो-हजारो युवक-युवतिया जिज्ञासुभाव से निरन्तर उपस्थित होते है। अपनी चारित्रिक उज्ज्वलता के प्रति वे जागरूक भी रहते है। युवा पीढ़ी की शक्ति को सही दिशा मे नियोजित करने की अपेक्षा है, वास्तव मे यह एक कार्यकारी पीढी है।

धर्म के क्रियाकाण्डी रूप को बदलने के लिए अणुव्रत ने धर्मक्रान्ति के पाच सूत्र दिये—

- बौद्धिकता
- प्रायोगिकता
- समाधानपरकता
- वर्तमान प्रधानता
- धर्म सद्भावना

इन सूत्रो से धर्म के क्षेत्र मे व्याप्त चिन्तनहीनता, रूढता, अन्धविश्वास, परलोक-सुधार और साम्प्रदायिक कट्टरता के भाव विगलित हुए है। धर्म की वैज्ञानिकता और वर्तमान जीवन मे उससे प्राप्त होने वाले लाभ का अनुभव हो जाए तो कोई भी प्रबुद्ध विचारक या युवक धर्म से विमुख नही जा सकता।

अणुव्रत के सिद्धान्त बहुत ऊचे है, पर सकल्प करने मात्र से तो वे जीवनगत होते नही। आदमी नैतिक बनना चाहता है पर परिस्थितियो का दबाव आते ही उसका मन बदल जाता है। ऐसी स्थिति मे अणुव्रत का उद्देश्य फलित नही हो सकता। इस समस्या को समाधान देने के लिए अणुव्रत के साथ प्रेक्षाध्यान का कार्यक्रम जोडा गया। प्रेक्षाध्यान का प्रयोग करने से ग्रन्थियो के स्राव बदलने लगते है। उस रासायनिक परिवर्तन का प्रभाव मनुष्य की आदतो पर पडता है। अनेक व्यक्तियो ने इस प्रयोग से अपने जीवन मे अद्भुत रूपान्तरण अनुभव किया है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान एक-दूसरे के पूरक है। अणुव्रत आन्दोलन को रचनात्मक आन्दोलन का रूप देने मे प्रेक्षाध्यान तक की अहम भूमिका रही है।

अणुव्रत का कार्यक्रम व्यापक कार्यक्रम है। इसने देश की सीमाओ से बाहर भी अपनी आवाज पहुचायी है। इसका प्रभाव उन सब लोगो पर पडा है, जो वैयक्तिक और राष्ट्रीय चरित्र को उन्नत देखना चाहते है। अणुव्रत से प्रभावित अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति सक्रिय रूप से इसके साथ जुडे है। उन सबके आत्मीय सहयोग से ही अणुव्रत का रूप उत्तरोत्तर निखरता जा रहा है। उन लोगो मे अणुव्रत-प्रवक्ता यशपालजी जैन का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होने वर्षो तक अखिल भारतीय अणुव्रत समिति का अध्यक्षीय दायित्व सभाला। 'अणुव्रत' पत्र के लिए भी ये समय-समय पर लिखते रहते है। अणुव्रत दर्शन के ये उच्चकोटि के व्याख्याता है। अणुव्रत को इनकी सेवाओ से बहुत लाभ मिला है। और भविष्य मे भी मिलता रहे, यही अपेक्षा है।

ग्राम-निर्माण की नयी योजना

प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक दो प्रकार का जीवन जीते हैं—शहरी और ग्रामीण। दोनों जीवन पद्धतियो का अपना महत्त्व है और दोनो के अपने-अपने तौर-तरीके है। कोई भी जीवन पद्धति किसी से कम या अधिक नही है। दोनो मे कुछ अच्छाइया है तो दोनों मे ही कुछ कमिया भी है। कमियो को दूर कर अच्छाइयो को अपनाने से दोनो जीवन पद्धतिया सर्वांगीण हो सकती है।

एक ग्रामीण व्यक्ति अपने मित्र के निमत्रण पर देश की राजधानी मे गया। पहली बार शहर गया था वह। व्यक्ति विचारशील था। उसने शहर की हर गतिविधि का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। शहर से गाव लौटने पर गाव वालो ने उससे पूछा—गाव और शहर मे क्या फर्क है? वह बोला—गाव के लोग सध्या के समय थके हुए घर आते हैं, पर सुवह उठते है तव ताजगी से भरे हुए होते हैं। इसके विपरीत शहर के लोग संध्याकाल मे ताजगी से भरे रहते है। क्लवो, होटलो और छविगृहो मे आकर जिन्दगी का मजा लेते हैं। किन्तु प्रात.काल उठते है, तव अलसाए रहते है, मुर्दा-से वन जाते है।

एक व्यक्ति का यह अनुभव शहरो की कृत्रिमता और गावो की सहजता का पूरा चित्र खीच देता है। शहरी लोगो ने अपने वाह्य पर्यावरण और आतरिक परिवेश दोनो विन्दुओ पर कृत्रिमता का इतना सघन खोल चढा लिया है कि वास्तविकता की पहचान ही मुश्किल हो गयी है। एक समय था, जव लोग गाव छोडकर शहरो मे जाते थे, वह उनकी विवशता थी। शहरो मे जाने के वाद भी उनका मन अपने गाव की यादो मे खोया रहता था और गाव के प्रति प्रगाढ आकर्षण होता था। किन्तु कुछ लोग शहर मे जाकर अपने आपको वडा आदमी समझने लगे और उस अन्धानुकरण मे अच्छे-अच्छे आदमी वह गए। परिणाम यह हुआ कि सबका ध्यान शहरो की ओर केन्द्रित होने लगा और गावो के प्रति उपेक्षा का भाव जन्मने लगा। शायद इसी वात से आहत होकर गाधीजी को कहना पड़ा—'शहर अपनी हिफाजत आप कर सकते हैं। हमे तो अपना ध्यान

गावो की ओर लगाना चाहिए। हमे उन्हे उनकी सकुचित दृष्टि, पूर्वाग्रहो और वहमो से मुक्त करना है। इसे करने के लिए इसके सिवा और कोई तरीका नही है कि हम उनके साथ उनके बीच मे रहे, उनके सुख-दु ख मे हिस्सा ले और उनमे शिक्षा का तथा उपयोगी ज्ञान प्रचार करे।'

गाधीजी के इस कथन मे उनकी दूरगामी सूझ-बूझ ही नही, उस पीड़ा का भी प्रतिविम्ब है, जिसे हमारे देश की ग्रामीण जनता भोग रही है। देश को स्वतंत्र हुए सैंतीस वर्ष हो गए। इस अवधि मे देश मे कुछ नही हुआ, यह बात नही है। पर जो कुछ हुआ है, हो रहा है, उससे गावो को कितना लाभ मिला है ? आज भी देश में ऐसे गावो की कमी नही है, जहा लोगो को पीने के लिए पानी नही मिलता। कुछ गावो के आदमी तो यहा तक कह देते है—पानी तो अब केवल आखो मे रहा है, पीने के लिए कैसे मिलेगा ? एक भाई ने तो यात्रियो से यहा तक कहा कि आप घी का लोटा ले लीजिए, पर पानी मत मागिए। बडी-बड़ी योजनाओ पर बहुत लोग सोचते है, पर इस सबसे छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण योजना पर ध्यान कौन दे ? गावो मे पानी ही सुलभ न हो तो सडको और बिजली के बारे मे तो कहना ही व्यर्थ है। गावो मे तो सडके है ही नही, पर जो है उनकी भी दुर्गति हो रही है। नगे पाव पैदल चलने वाले लोग ही सडको की असलियत को समझ सकते है। इस वर्ष जोधपुर की यात्रा मे एक ऐसी ही सड़क पर चलते समय मेरे मुह से राजस्थानी भाषा मे अनायास ही यह दोहा निकल पड़ा :

सड़कां राजस्थान री, केड़ी बणी कमाल।
कूडी स्यू जोधाण पथ, देखो पाला हाल॥

आदमी की न्यूनतम आवश्यकता है—रोटी, पानी, वस्त्र, मकान, चिकित्सा और शिक्षा। गाव के आदमी श्रमशील होते है। वे कडी मेहनत करना जानते हैं। पर क्या उनके श्रम का शोषण नही होता ? जी-तोड मेहनत कर वे फसल उगाते है, पर क्या वे अपने अनाज को उचित मूल्य पर बेच पाते है ? सरकार उनके लिए कितनी ही व्यवस्थाए करे, पर क्या वे उनका सही लाभ उठा पाते है ?

इस सन्दर्भ मे दो सवाल सिर उठाए खडे है—

१. गाव के लोग इतना श्रम करके भी अभावो मे क्यो जीते हैं ?
२. सरकार उनके लिए जो व्यवस्थाए देती है, उनका लाभ उन्हे क्यो नही मिलता ?

दोनो प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और इनके उत्तर भी साफ-साफ है। ग्रामीण जनता कठोर परिश्रम करके जो पैसा कमाती है, वह उसका सही ढंग से नियोजन करना नही जानती। इसलिए अपने पसीने की कमाई को वह शराब, तम्बाकू, भाग, अफीम आदि नशीले पदार्थो के सेवन मे पानी की तरह बहा देती है। उसके पास

पैसा आया भी, लेकिन आदतो के पोषण में लग गया। इस स्थिति मे अभाव की पीडा ज्यो की त्यो बनी रहती है।

गाव के लोग सिगरेट तो नही, बीडी अधिक पीते है। बीडी का एक बण्डल पी लेना उनके लिए साधारण बात है। कुछ लोग दो-तीन बण्डल भी पी लेते हैं। एक बण्डल के कम से कम ७५ पैसे खर्च होते है। प्रतिदिन ७५ पैसो के हिसाब से एक महीने मे २२ रुपये ५० पैसे व्यय होते है। इस प्रकार एक वर्ष मे २७० रुपये खर्च होते है। यदि एक घर मे बीडी पीने वाले पाच व्यक्ति हो तो वर्ष भर का खर्च १३५० रुपये हो जाता है। प्रतिदिन एक बडल के हिसाब से जो व्यय होता है, उसे अगर तीन गुना कर दिया जाए तो वार्षिक व्यय चार हजार हो जाता है। एक वर्ष का यह व्यय पाच या दस वर्ष मे कितना हो जाता है। एक व्यसन को छोडने से व्यक्ति को इतना आर्थिक लाभ हो जाता है। तम्बाकू के साथ शराब, अफीम आदि के व्यसन छूटने से यह लाभ और अधिक बढ जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक सतुलन के लाभ को कोई प्रत्यक्ष रूप मे समझे या नही, पर आर्थिक लाभ तो सबके सामने है।

कुछ लोग शराब, तम्बाकू आदि का सेवन नही करते, किन्तु मृत्युभोज आदि सामाजिक कुरीतियो मे पैसा खर्च कर देते है। यह 'काज किरियावर' ओसर-मोसर घर की बरबादी का कारण बन रहा है, फिर भी वह उनके लिए अपरिहार्य बन रहा है। क्यो ? ऐसा नही करेंगे तो पिता-दादा की सद्गति नही होगी। आश्चर्य ! जीवनकाल मे पिता, दादा को पानी पिलाने की फुरसत नही, घर मे दिन-रात की सिर-फुटौवल और मरने के बाद उन्हे हलुवा-पूडी खिलाना चाहते है। कैसी विडम्बना है ! अशिक्षा, अधविश्वास और सामाजिक कुरूढियो की यह निष्पत्ति इन गावो को कहा ले जाएगी, कुछ कहा नही जा सकता। किसी आदमी के पास पैसा हो और वह अपने पूर्वजो की स्मृति मे कुछ करना ही चाहता हो तो उसके लिए करणीय कामो की कमी नही है। 'काज किरियावर' मे जो पैसा लगता है, इसका उपयोग दूसरे रचनात्मक काम मे करके वह अपने पिता की यादगार को स्थायी रख सकता है।

गाव के लोग अपने आपसी मतभेदो और झगडो को सरलता से निपटा सकें, इस दृष्टि से गाव-गाव मे पंचायतीराज की व्यवस्था हुई। इस व्यवस्था के अनुसार पचो का निर्णय गाववासियो को सर्वमान्य होना चाहिए था, किन्तु यह क्रम भी शिथिल हो गया। पच परमेश्वर की बात गौण हो गयी। इसलिए गाववासी अपने छोटे-छोटे झगड़ो को अदालतो मे ले जाते है। वहा जाने के बाद उन्हे न्याय मिलता है या नही, यह तो पता नही, उनका पैसा वकीलो की जेब मे अवश्य चला जाता है। इससे भी गाव का नुकसान होता है। उसी झगड़े का गाव

के दो-चार आदमी बैठकर निपटा ले तो इज्जत और पैसा—दोनो की सुरक्षा हो जाती है।

छुआछूत समाज के लिए कलक है। इससे जातिवाद को बढावा मिलता है। इसे धर्म का अग मानना मूढता का प्रतीक है। फिर भी गावो मे अस्पृश्यता की भावना प्रबल है। अनुसूचित जातियो के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करना होगा, यह बाध्यता तो है नही। फिर किसी को अछूत मानकर उससे घृणा करना, उसे मानवीय अधिकारो से वचित रखना कहा का न्याय है।

अपनी जोधपुर यात्रा के दौरान हम लोग एक छोटे गाव मे ठहरे। वहा हमारी साध्विया किसी हरिजन भाई के मकान मे ठहर गयी। अब तो गाव के लोगो ने बावेला खड़ा कर दिया। उन्होने यहा तक धमकी दी कि या तो आप इस मकान को छोडकर दूसरे मकान मे चले जाइए अन्यथा भविष्य मे आपको ठहरने के लिए सवर्ण लोगो के मकान नही मिलेगे।

साध्वियो ने मुझसे पूछा—हमे क्या करना चाहिए ? मैने उनसे कहा—तुम लोग वही रहो। गाववालो को मैं समझाऊगा। आखिर गाव वाले समझे भी, किन्तु थोडी देर मे माहौल इतना खराब कर दिया कि गाव मे हडकम्प-सा मच गया। मैंने उनसे कहा—हम अस्पृश्यता को मानते नही। हमारी दृष्टि मे जाति से कोई व्यक्ति ऊचा या नीचा नही होता। हमारे अभिमत मे अछूत अगर कोई है तो आदमी के भीतर का गुस्सा और झूठा अह है। यह बात हम सब लोगो के बीच मे कहते है, फिर भी किसी को अछूत मानते रहेगे तो हमारी कथनी और करनी की एकता कैसे सधेगी ?

यह एक घटना है। न जाने ऐसी कितनी घटनाए घटित होती होगी। इन घटनाओ का अन्त तभी होगा, जब गाववालो की चेतना जागृत होगी। इसलिए गाववासियो को छुआछूत की बीमारी का समूल उच्छेद कर सबके साथ भाईचारे का व्यवहार करना चाहिए।

शादी-विवाह के प्रसग पर 'टीका' मागना, यह भी एक बीमारी है, जो शहरो की भाति गाव मे भी अपने विषाक्त कीटाणुओ को फैला रही है। यह भी बर्बादी का ही एक रास्ता है। पिता अपनी बेटी को कुछ भी दे, पर उससे मागकर लेना और उसे बाध्य करना कहा तक उचित है ? हमारे नीतिकारो ने तो यहा तक कहा है—

आप दिया सो दूध बराबर, मांग लिया सो पानी।
झगड़ लिया सो खून बराबर, आ सन्तां री वानी॥

गाववासी सन्तो की इस वाणी को भूलकर अपने सगे-सबधियो से झगडकर भी 'टीका' लेते है, यह बहुत गलत परम्परा है।

आज हमारे देश मे प्रजातत्र है। प्रजातन्त्र का आधार है जनता के वोट।

प्रत्याशी लोग आते हैं और गाववासियो को शराब पिलाकर या पैसे का प्रलोभन देकर 'वोट' ले जाते है। यह प्रजातन्त्र कहा हुआ ? गाववासियो को यह अधिकार है कि वे सोच-समझकर अच्छे नैतिक आदमी को वोट दें। इसमे जातपात, प्रलोभन या भय आडे नही आना चाहिए। किन्तु ऐसा होता है। यदि गाववासी इस बुराई से मुक्त हो जाए तो गाव का सुधार हो सकता है।

ऐसी और भी कई बुराइया है, जिनसे गावो मे रहने वाले लोगो का ही खास सम्बन्ध है। पर गाव के लोग उन्हे समझते नही हैं। शिक्षा की कमी इसका प्रमुख कारण है। उनको समझाने वाले भी कोई नही मिलते। यदि उन्हे उन्ही का होकर इन सब बुराइयो से होने वाले दुष्परिणामो के बारे मे बताया जाए तो उनमे बहुत जल्दी परिवर्तन हो सकता है। यह बात मैं अपने अनुभव के आधार पर बता रहा हू।

इस वर्ष हमारी यात्रा को तीन भागो मे बाटा जा सकता है। तीसरे भाग मे लगभग तीन सौ किलोमीटर की हमारी यात्रा गावो की यात्रा थी। इस यात्रा मे हमने ग्रामीण जीवन को बहुत निकटता से देखा, परखा और उसका अध्ययन किया। जिस किसी गाव मे हम गए, गाववासियो की भीड किसी सूचना या निमत्रण की प्रतीक्षा किए बिना अपने आप एकत्रित हो जाती। उस अनाहूत भीड से बातचीत करने मे मैं इतना भाव-विभोर हो जाता कि अपने जीवन के व्यक्तिगत क्षण भी मैं उन्हे अर्पित कर देता। उन लोगो के सुख-दु ख की कहानी को जितनी निकटता से सुनता, उतना ही अधिक आत्मीय भाव उन लोगों के प्रति उमडता। हमने उनकी समस्याओ को सुना, समझा और उनका समाधान भी सुझाया। प्राकृतिक समस्या का जहा तक प्रश्न है, किसी के हाथ की बात नही है। पर गाव की उपेक्षा से उपजी समस्याओ की ओर यदि देश के विचारशील लेखक, सामाजिक कार्यकर्ता और सत्तारूढ व्यक्ति अपना ध्यान केन्द्रित करें तो बहुत जल्दी उनका समाधान हो सकता है। अब रही उनकी अपनी निजी समस्याए, जिनका सम्बन्ध आदतो, अधविश्वासो, सामाजिक कुरूढियो और अशिक्षा से है, उनके सम्बन्ध मे हमने बड़े प्रेम से उनको समझाया, एक-एक बुराई का प्रतिफल बताया और उन्हे आह्वान किया। बहुत बार हमारे एक ही आह्वान पर सैकड़ो व्यक्ति बुराइया छोडने के लिए तैयार हो जाते और कभी-कभी कुछ ही व्यक्ति साहस जुटा पाते। कुल मिलाकर हर गाव मे बुराई करने वालो का अनुपात कम हुआ है। इस अनुभव के आधार पर हमने ग्रामीण लोगो के लिए एक आचार-सहिता का निर्धारण किया। मेरा यह दृढ विश्वास है कि उस आचार-संहिता का गाव-गाव मे पालन होने लगे तो बिना किसी लागत के ग्राम-विकास या ग्राम-निर्माण की एक नयी योजना क्रियान्वित हो जाती है। लागत की बात दूर, इस योजना मे तो बचत की पूरी सभावना है। बचत के उन पैसो का

उपयोग गावो के विकासमूलक कामो मे किया जाए तो गाववासी दोनो ओर से लाभान्वित होकर अपने जन्म और जीवन को सार्थकता दे सकते हैं। ग्राम्य-जीवन के लिए निर्धारित आचार-सहिता के जो सूत्र हमने गाववासियो को बताए, वे ये है—

१. बिना प्रयोजन निरपराध जानवरों को नही मारना और अपने अधीन पशुओ की दुर्दशा नही करना।
२. शराब, तम्बाकू, भाग, गाजा, जर्दा, अफीम आदि नशीले पदार्थों का सेवन नही करना।
३. मृत्यु-भोज नही करना।
४. विवाह के प्रसंग मे 'टीका' नही मागना।
५ गावो के झगडो को लेकर कोर्ट-कचहरियो मे नही जाना।
६. जाति के नाम पर किसी को अछूत नही मानना।
७ रुपये या किसी अन्य प्रलोभन से वोट न देना।

इस सप्तसूत्री कार्यक्रम को लेकर एक अभियान चलाया जाए और साधु-सन्त इस अभियान को आगे बढाने मे अपनी शक्ति, समय और चिन्तन का पूरा उपयोग करे, यह अपेक्षा है।

जैन दर्शन और अणुव्रत

दर्शन मनुष्य की सत्याभिमुखी प्रगति का स्वाभाविक क्रम है। इन्द्रिय की प्रवृत्ति वहिर्मुखी है इसलिए वह पहले वाह्य जगत् को देखता है। वाह्य जगत् यानी स्थूल सत्य। इन्द्रिय के द्वारा उपलब्ध सत्य से वह सन्तुष्ट नही होता, तव वुद्धि के द्वारा स्थूल से सूक्ष्म सत्य की ओर प्रस्थान करता है। वुद्धि भी उसे पूर्णत सन्तुष्ट नही कर पाती, तव वह अनुभूति के द्वारा सूक्ष्मतम या परिपूर्ण सत्य की ओर प्रस्थान करता है।

दर्शन का यह क्रम सर्वत्र रहा है। इस क्रम के अनुसार मनुष्य ने जगत्, आत्मा और परमात्मा को देखने का चिर प्रयत्न किया है। यही दर्शन के विकास का इतिहास है।

दर्शनीय तत्त्व यानी सत्य के रूप परस्पर-विरोधी नही है। देखने की दृष्टिया भिन्न-भिन्न है, इसलिए सत्य भी परस्पर-विरोधी जैसा प्रतिभासित होता है। दर्शन के दो रूप प्राप्त हैं.

१ तार्किक या वौद्धिक।

२. आनुभाविक।

जितना दार्शनिक भेद है वह मव वौद्धिक-तार्किक स्तर पर है। अनुभव के स्तर पर मतभेद नही हो सकता है।

अनुभव की तीन कक्षाए हैं। प्रथम कक्षा मे सत्य का सक्षेप मे अनुभव व प्रतिपादन होता है। दूसरी कक्षा मे सत्य का आशिक विस्तार से अनुभव व प्रतिपादन होता है। तीसरी कक्षा मे सत्य का समग्रता से अनुभव व प्रतिपादन होता है। जैन दार्शनिको ने इन कक्षाओ की सज्ञा क्रमश. द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय और प्रत्यक्ष प्रमाण दी है।

अनुभव की कक्षा का यथार्थ वोध होने पर सत्य के ग्रहण मे कोई मतभेद नहीं होता। यह मतभेद-शून्य विद्या ही जैन दर्शन के अनुसार अध्यात्म विद्या है। इसी को भगवद् गीता मे सव विद्याओ मे श्रेष्ठ कहा गया है—'अध्यात्मविद्या

विद्यानाम्।' जैन दर्शन जिन तत्त्वो पर विकासशील हुआ है, वे आधारभूत तत्त्व चार है :

१. आत्मवाद ।
२. लोकवाद ।
३. कर्मवाद ।
४. क्रियावाद ।

भगवान् महावीर ने कहा है

१. आयावाई ।
२ लोयावाई।
३. कम्मावाई ।
४. किरियावाई ।

जैन दर्शन के अनुसार चैतन्य स्वतत्र है। वह पच महाभूतो या देह से निष्पन्न नही है। भगवान् महावीर से पूछा गया—'भते ! आत्मा शाश्वत है या अशाश्वत् है?' भगवान् ने कहा—'आयुष्मन् ! द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से (अस्तित्व की दृष्टि से) आत्मा शाश्वत् है—अनुत्पन्न और अविनाशी है। पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से (रूपान्तर की दृष्टि से) वह अशाश्वत है —उत्पन्नधर्मा और विनाशधर्मा है।

जैन दर्शन आत्मवादी है, इसीलिए वह परम आस्तिक है । उसमे परमात्म' का अस्वीकार नही । आत्मा की तीन कक्षाए है

१. वहिर्-आत्मा ।
२ अन्तर्-आत्मा ।
३. परम-आत्मा ।

१ बहिरात्मा आत्मा की पहली कक्षा है। उसमे देह और आत्मा का भेद-ज्ञान नही होता ।
२ अन्तरात्मा आत्मा की दूसरी कक्षा है। उसमे भेद-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसके उपलब्ध होने पर उसका प्रस्थान अपने देहमुक्त स्वरूप की ओर हो जाता है।
३ परमात्मा आत्मा की तीसरी कक्षा है। उसमे आत्मा अपने मौलिक रूप मे अवस्थित हो जाता है, परमात्मा बन जाता है ।

इसी दृष्टि से मैंने कहा कि जैन दर्शन मे परमात्मा का अस्वीकार नही है, उसके सृष्टि-कर्तृत्व का अस्वीकार है।

ईश्वरवादी दर्शन—नैयायिक, वैशेषिक आदि—ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते है। जैन दर्शन के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। इसलिए उसके कर्तृत्व का भार वहन करने की किसी को आवश्यकता नही है।

भगवान् महावीर से स्कन्दक संन्यासी ने पूछा—'भंते ! लोक शाश्वत है या अशाश्वत है ?'

भगवान् ने कहा—'आयुष्मन् ! द्रव्यार्थिकनय (अस्तित्व) की दृष्टि से लोक शाश्वत है और पर्यायार्थिकनय (रूपान्तरण) की दृष्टि से वह अशाश्वत है।'

वह अशाश्वत है इस दृष्टि से उसमे सृष्टि-कर्तृत्व का अश भी सन्निहित है। महावीर के अनुसार वह जीव और पुद्‌गलो के स्वाभाविक सयोग की प्रक्रिया से सम्पादित होता है। इसी सम्पादन को लक्ष्य मे रखकर महान् आचार्य हरिभद्रसूरी ने जैन दर्शन की ईश्वरवादी दर्शनो के साथ तुलना की है। उन्होने लिखा है :

> 'पारमैश्वर्ययुक्तत्वात्, आत्मेव मत ईश्वर ।
> स च कर्तेति निर्दोषं, कर्त्तृवादो व्यवस्थितः ॥'

—'आत्मा परम ऐश्वर्य सम्पन्न है। अतः वह ईश्वर है। वह कर्ता है। इस दृष्टि से जैन दर्शन कर्त्तृवादी भी है।'

जैन दार्शनिको ने सत्य को अनेकान्त दृष्टि से देखा है, इसलिए अनन्तधर्मा तत्त्व के किसी एक धर्म की स्वीकृति को उन्होने सम्पूर्ण सत्य की स्वीकृति नही माना। उनकी दृष्टि मे एकाशग्राही जितने दृष्टिकोण है। वे सव मिथ्या हैं। सर्वांशग्राही दृष्टिकोण ही सम्यक् हो सकता है।

साधारण मनुष्य का ज्ञान अपर्याप्त होता है। इसलिए वह एकाशग्राहिता के वलय से मुक्त नही हो सकता और सर्वांशग्राहिता के विना वह सम्यक्-दृष्टि नही हो सकता। इस समस्या के समाधान के लिए भगवान् महावीर ने 'सिय' (स्यात्) शब्द का आविष्कार किया। 'स्यात्' शब्द सापेक्षता का सूचक है। एकाशग्राही दृष्टिकोण सापेक्ष होता है तव वह मिथ्या नही होता। उसमे एक धर्म की स्वीकृति अन्तर्भूत अनन्त धर्मों की स्वीकृति मे विभिन्न होकर नही होती। यह प्रक्रिया अज्ञात अनन्त सत्य के निषेध की नही, किन्तु स्वीकृति की प्रक्रिया है। इसमें मनुष्य ज्ञात को ही अन्तिम सत्य मानकर नही वैठता, वह ज्ञात के प्रति आसक्त हो अज्ञात की जिज्ञासा का द्वार वन्द नही करता।

इस सर्वग्राही दृष्टि के कारण जैन दार्शनिको का प्रतिपादन ऐसा हो गया है, जैसे उसका अपना कोई मौलिक स्वरूप ही न हो। इसीलिए एक जैनाचार्य ने जैन दर्शन की व्याख्या इसी सन्दर्भ मे की है। उनकी व्याख्या है—'जो एकाशग्राही दृष्टिकोणो का समूह है वही जैन दर्शन है।'

उसकी सप्तभगी और सप्तनयो ने प्रत्येक दर्शन के साथ अपना नैकट्य स्थापित किया है। इसीलिए वह आपात-भ्रम, जिसका मैंने उल्लेख किया, सहज ही हो जाता है। किन्तु मैं इसी को जैन दर्शन की मौलिक देन मानता हू। साम्प्रदायिक आस्था का प्रस्थान दूसरो से विभिन्न होने की दिशा में होता है किन्तु

सत्यसधित्सा का प्रस्थान समरसता की दिशा मे होता है। इसलिए अपने को दूसरो से विभिन्न रखना उसका लक्ष्य नही होता। मेरी दृष्टि मे दर्शन का यही अन्तिम ध्येय है। सत्य की एकात्मकता—आत्मौपम्य या आत्माद्वैत जितना शाश्वत सत्य है उतना ही सामयिक समस्याओ का समाधान है।

सामयिक समस्याओ का समाधान करना भी दर्शन का एक अग है। शाश्वत और सामयिक दोनो की समन्वित स्वीकृति ही मेरी दृष्टि मे जैन दर्शन है।

अणुव्रत

जैन दर्शन का दृष्टिकोण उदार रहा है। अणुव्रत उसी का प्रतिफल है। यह धर्म का नवनीत है। आज की समस्या है कि धर्म और व्यवहार अलग-थलग हो गए हैं। अणुव्रत धर्म और व्यवहार की दूरी को मिटाने की प्रक्रिया है। धर्मस्थान मे जाने वाले को भले ही धर्मगुरु धार्मिक होने का प्रमाणपत्र दे दे, किन्तु व्यवहार-शुद्धि के विना अणुव्रत की दृष्टि मे वह धार्मिक नही है।

आज धर्म क्रियाकाड-प्रधान हो गया है। मैं क्रियाकाडो का विरोधी नही हू लेकिन उनको प्रमुख स्थान देने के पक्ष मे भी नही हू। क्रियाकाण्डो की उपयोगिता तभी हो सकती है जब उसकी पृष्ठभूमि मे आचार और व्यवहार की पवित्रता हो।

मनुष्य जब धर्म से शून्य होता है तब उसमे छलना पनपती है। फिर वह मनुष्य को ही नही, भगवान् को भी धोखा देने लग जाता है, झूठा मामला लडता है। जब वह न्यायालय मे जाता है तब भगवान् से आशीर्वाद मागकर जाता है और वह जीत जाता है तब भगवान् की मनौती करता है। भगवान् यदि झूठो की विजय करता है तो वह भगवान् कैसे होगा? झूठ चलाने के लिए जो भगवान् की शरण लेता है वह भक्त कैसे होगा? धार्मिक कैसे होगा? अणुव्रत इस प्रकार की चर्या को धार्मिकता का प्रमाणपत्र नही देता और न ही दे सकता।

जो व्यक्ति अहिंसा और सत्य, प्रामाणिकता और पवित्रता का आचरण करता है, वह भले भगवान् को न माने पर वह सही अर्थ मे भगवान् का भक्त है और सच्चा धार्मिक है। अणुव्रत प्रामाणिकता का आन्दोलन है। वह पूजा की अपेक्षा प्रामाणिकता को अधिक महत्व देता है।

अणुव्रत जाति व सम्प्रदाय आदि के भेदो से दूर है। किसी भी देश, जाति व सम्प्रदाय का आदमी अणुव्रती बन सकता है यदि वह प्रामाणिकता के पथ पर चलना चाहता है। मैं चाहता हू कि इस असाम्प्रदायिक आन्दोलन को हर आदमी व्यापक दृष्टि से देखे और उसे व्यापक बनाने के कार्यक्रम से अपना योग दे।

अस्पृश्यता । मानसिक गुलामी

अछूत मुक्ति सेना के इस कार्यक्रम को लेकर कई दिनो से चर्चा चल रही थी। कुछ व्यक्ति मेरे पास आए और पूछने लगे कि अछूत मुक्ति सेना के लोग आपके पास क्यो आ रहे है ? मैंने कहा—'हमारे यहा उन सबको आने का अवकाश है जो जीवन-विकास एव आत्म-हित की प्रेरणा लेना चाहते हैं तथा अहिंसात्मक तरीको से काम करना चाहते है।' अछूत मुक्ति सेना के कार्यकर्ता अपने विचार रखने एवं यहा से विचार लेने के लिए इस कडी धूप की परवाह न करते हुए यहा आए है, इसकी मुझे प्रसन्नता है।

अस्पृश्यता का प्रारम्भ कब से हुआ इसका इतिहास बताना कठिन है किन्तु इतना अवश्य है कि प्रारम्भ मे इस समाज का बडा महत्त्व था। सेवा करने वालो को यह काम मिला। किसी प्रकार की ग्लानि एव घृणा के बिना समाज को स्वच्छता एव स्वास्थ्य प्रदान करने वाले इस समाज को 'महत्तर' शब्द मे सबोधित किया गया। 'महत्तर' शब्द का अर्थ है—महान् से भी महान्। अत इस कार्य के लिए जो इसे सम्मान प्राप्त हुआ, वह इस शब्द से प्रकट होता है। किन्तु शब्दो का उत्कर्ष या अपकर्ष होता रहता है। आज इस शब्द का अपकर्ष हुआ है। यही कारण है कि लोग महत्तर शब्द से भडकते है।

मैं इसे विचारो की दासता मानता हू। इसे मिटाना कठिन है। गाधीजी ने इसे मिटाने का बीडा उठाया। बहुत कुछ कार्य हुआ किन्तु वे भी इस कार्य को अधूरा छोडकर चले गए। सरकार ने अस्पृश्यता-निवारण का कानून बनाया। किन्तु मन को बदलने वाला कानून नही बन सका। जब अन्तर का कानून काम करेगा तभी आत्मा की आवाज बन सकेगी।

मुझे प्रसन्नता है कि हरिजन स्वय उठने का प्रयास कर रहे है। दूसरो का सहयोग लिया जा सकता है किन्तु उन पर निर्भर हो जाना दासता और दीनता है। जब किसी को उठना या उत्थान करना है तो स्वय को प्रयत्नशील बनना होगा। पक्षाघात से पीड़ित व्यक्ति दूसरो के सहारे उठकर भी टिक नही सकता।

जो स्वस्थ है, थोडा सहारा मिल जाने मात्र से उठ जाता है। अत उत्थान का प्रारम्भ स्वय से हो। पुरुषार्थी को ही सहयोग प्राप्त होता है, अन्यथा सहयोग मिलता भी नही।

अस्पृश्यता विचारो की गुलामी है। किसी मनुष्य को अस्पृश्य मानना कितना अनुचित है ? कुत्ता थाली मे पानी पी सकता है क्योकि वह अस्पृश्य नही है। किन्तु मनुष्य के पास बैठना भी स्वीकार नही, यह आश्चर्य की बात है। जातिवाद ने अस्पृश्यता को बढावा दिया किन्तु केवल जातिवाद ही इसका कारण नही है। धर्म-सम्प्रदायो ने भी इसे बढावा दिया है। यदि सब धर्म-गुरु अस्पृश्यता का प्रतिकार करना प्रारम्भ कर दे तो लाखो-करोडो व्यक्तियो को सही चिन्तन मिल सकता है। जब से मेरे सामने यह प्रश्न आया और मुझे लगा किसी को अस्पृश्य मानना अपराध है तब से इस विचार को प्रतिष्ठित करने का मैंने प्रयास किया है। मेरी एक सभा मे कुछ हरिजन भाई आए। कई व्यक्तियो ने उन्हे रोक दिया। मै दूर से सारी स्थिति का अकन कर रहा था। मुझे लगा कि यह मानवता के प्रति न्याय नही हो रहा है। मैंने तत्काल उपस्थित जनसमूह से कहा—'जहा मेरा प्रवचन हो वहा जातीयता के कारण किसी को प्रवचन सुनने से नही रोका जाना चाहिए। उसे रोकना मै अपने को रोकना मानता हू।' परिणाम यह हुआ कि अब समाज के सहस्रो व्यक्तियो के दिमाग से 'अस्पृश्यता' नाम नेस्तनाबूद-सा हो गया है।

जब से अणुव्रत का कार्य प्रारम्भ हुआ है तब से महाजन-हरिजन, अमीर-गरीब आदि सभी प्रकार के कार्यकर्त्ता एक साथ बैठकर चिन्तन करने लगे है। मैं अन्यान्य लोगो से भी कहना चाहूगा कि हरिजन लोग और चाहते भी क्या है ? ये कब कहते है कि आपको बेटी हमे देनी होगी। और यह भी कब कहते है कि आपको हमारे साथ भोजन करना होगा। इनका यह आग्रह है भी नही और होना भी नही चाहिए। ये तो इतना ही चाहते है कि एक वर्ग विशेष के प्रति जो घृणा के भाव है, उन्हे आप निकाल दे। यह भावना खत्म करना मेरा भी काम है। लोगो के मन मे धर्म की भावना भरनी है तो अस्पृश्यता की भावना मिटानी होगी।

अस्पृश्य तो अशुचि या गन्दगी है। हरिजन लोग सफाई करते है, इसलिए उन्हे अस्पृश्य माना जाता है तो मैं पूछता हू कि ऐसा कौन व्यक्ति है जो अपनी सफाई अपने आप नही करता ? तब क्या आप अथवा आपके हाथ अस्पृश्य नही हो जाएगे ? कुछ लोग कहते है कि ये लोग औरो की सफाई करते है, तो क्या माता अपने पुत्र की सफाई नही करती ? क्या परिवार मे रुग्ण और अपग सदस्यो की सफाई नही होती ? यदि होती है तो आप अस्पृश्य नही होगे ? यदि नही होते तो समाज की सतह पर सफाई करने वाले ये हरिजन अस्पृश्य क्यो होगे ?

वस्तुतः अस्पृश्यता की भावना धार्मिक और सामाजिक दोनो दृष्टियो से हेय है।

भगवान् महावीर ने जुगुप्सा (घृणा) को पाप माना है। जुगुप्सा मोह कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो मे से एक है। यदि मोह कर्म को खत्म करना है तो जुगुप्सा को मिटाना होगा। जुगुप्सा करनी है तो बुराई से करो, जबकि उन्हे सैंकडो की सख्या मे अपने अन्दर लिये बैठे है। बात ऐसी है कि बुराई करने वाला अपने को बुरा नही मानता। अपने को बुरा मानने वाला बुराई कर भी नही सकता।

महाराष्ट्र के सन्त नामदेव का नाम सबने सुना होगा। कहा जाता है कि वे पहले एक डाकू थे। डाकुओ मे एक बात होती है कि उन्हे मृत्यु का भय और जीवन के प्रति आसक्ति नही होती। उच्चकोटि के अहिंसक की भी यही स्थिति होती है। भगवान् महावीर ने अहिंसक के लिए कहा है—'**जीवियासामरण-भयविप्पमुक्का**'—उसे जीवन के प्रति आसक्ति और मृत्यु के भय से मुक्त होना चाहिए। डाकू नामदेव भी ऐसे ही थे। उन्होने बहुतो का धन और सुहाग लूटा। अनेक व्यक्तियो के प्राण लूटे। उनके नाम से ही लोगो के मन मे भय का सचार होने लगा। एक बार किसी सराय मे वे बैठे थे। कुछ लोग, जो उन्हे नही पहचानते थे, परस्पर बातें करने लगे। एक ने कहा—'डाकू नामू ने मेरे पुत्र को मार डाला।' दूसरा बोला—'उसने मेरे घर का सत्यनाश कर दिया। मेरा तो ऐसा किया, किन्तु उसका क्या होगा ? वह अपने पापो से कैसे छुटकारा पाएगा ?' तीसरे ने कहा—'मुझे तो उसके नाम से ही घृणा होती है।' अपने कृत्यो से लोगो को हुई पीडा एव आलोचना सुनकर उनके मन मे अपनी बुराइयो के प्रति घृणा जाग उठी। डाकू नामू सत नामदेव बन गए। यदि सन्त नामदेव का चिन्तन सब मे जागृत हो जाए तो अस्पृश्यता की समस्या सहज ही हल हो सकती है।

यदि डाका डालना पाप है तो बिना मतलब किसी से घृणा करना भी पाप है। हरिजन लोग आपसे और कुछ नही मागते, केवल सहानुभूति और सौहार्द मांगते है। क्या इतना भी आप इन्हे नही दे सकते ?

अस्पृश्यता का निवारण अछूतो पर दया करने के लिए नही किन्तु अपने मन की वृत्तियो को सुधारने के लिए करना चाहिए। किसी को 'बेचारा' मानना ठीक नही है। यदि दया करनी है तो अपनी दीनता के प्रति कीजिए। अपने को ठीक कर ले तो दया स्वत हो जाएगी। आचार्य भिक्षु ने कहा—'अपने-आप को बचाओ, दूसरे अपने-आप बच जाएगे। अपने पैर को बचाओगे तो चीटिया स्वत. बच जाएंगी।'

हरिजन भाइयो से भी मैं कहना चाहता हू कि आप दूसरो की सहानुभूति चाहते हैं तो अपने-आप को भी टटोलें। आप मे भी छुआछूत है, आपस मे एक-दूसरी जाति के प्रति अस्पृश्यता की भावना है। उनका स्पर्श नही करते। उनसे

हाथ का पानी भी नही पीते। परस्पर एक-दूसरे को हीन मानते है। अत: आप इस जुगुप्सा को जीतने का प्रयास करें। यदि सवर्ण लोगो की अस्पृश्यता की भावना खत्म करवाना चाहते है तो परस्पर की अस्पृश्यता को मिटाना होगा।

केवल नारो से कोई काम होने वाला नही है। इसके लिए चरित्र को ऊचा उठाने का प्रयास करना होगा, अन्यथा सुधार नही हो सकेगा। आप व्यसनमुक्त रहे। जुआ और शराब छोडें। सिनेमा तथा विवाह-शादी के अवसर पर अपव्यय से बचे। ऐसा करने के लिए अणुव्रती बने। अणुव्रती बनने का अर्थ है—अच्छा मनुष्य बनना। अणुव्रत का मंच महाजनो तथा नेताओ के लिए जितना खुला है, उतना ही हरिजनो के लिए भी। अणुव्रत का एक नियम है कि जाति, वर्ण आदि के आधार पर किसी को अस्पृश्य या हीन-उच्च नही माने। यदि सब अणुव्रती बन जाते है तो अस्पृश्यता की बीमारी सहज ही खत्म हो सकती है।

जीवन एक प्रयोग भूमि

हम जीवन-क्रम को देखते है तब लगता है कि जीवन जीने की कोई निश्चित पद्धति नही है। जिस देश-काल मे जो धारणाए मान्य होती है, उन्ही के अनुसार जीवन चलता है। धारणाए बदल जाती है, जीवन का क्रम बदल जाता है। जीवन का क्रम परिवर्तनशील है, इसलिए नये प्रयोग करने का अवकाश है। इस अवकाश से हम लाभ उठाना चाहते है।

अच्छाई का उभार

मनुष्य के जीवन मे अच्छाई और बुराई दोनो के बीज पडे है। निमित्त पाकर वे फूट पडते है। मनुष्य मे अच्छाई नही होती तो वह कभी अच्छा नही बन पाता। देश, काल, प्रकृति और व्यवस्था का अनुकूल योग मिलता है, तब अच्छाई को उत्तेजन मिलता है, वह प्रकट होती है और मनुष्य अच्छा बन जाता है।

धर्म की प्रेरणा

धर्म ने मनुष्य को अच्छा बनाने की प्रेरणा दी है। पर उस प्रेरणा से धर्मनिष्ठ लोग ही लाभान्वित हुए है। धर्मप्रेमी बहुत लोग हो सकते है पर धर्मनिष्ठ लोग बहुत थोडे होते है। अत धर्म की प्रेरणा से समाज मे अच्छाई का आना सहज नही है। धर्मप्रेमी लोग धर्म की प्रेरणा को अच्छा समझते हैं। किन्तु उसमे स्वार्थों का सघर्ष होता है, तब बुराई का सहारा लेकर भी वे अपने स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते है। इसलिए धर्म से उनके जीवन मे परिवर्तन नही आ सकता। बहुत लोग कहते है—हजारो वर्ष बीत गए, धर्म से कोई परिवर्तन नही हुआ। समग्र समाज की दृष्टि से देखे तो इस उक्ति मे सचाई है। कुछ लोगो की दृष्टि से देखें तो सचाई यह है कि धर्म की प्रेरणा से जितना परिवर्तन हुआ, उतना किसी भी व्यवस्था से नही हुआ। अहिंसा, अपरिग्रह, प्रामाणिकता और नैतिकता मे धर्मनिष्ठ लोग सबसे आगे रहे है और है।

धर्म और व्यवस्था का योग

धर्म का शासन सबको मनवाया नही जा सकता। वह उन्ही के लिए होता है, जो मानना चाहते है। वैधानिक शासन मान्य करना पडता है, भले फिर वह हृदय से मान्य हो या न हो।

जो धर्मनिष्ठ नही होते, वे स्ववशता से अपने स्वार्थो का त्याग नही कर सकते। वैधानिक व्यवस्था मे विवशता होती है, इसलिए वहा स्वार्थो का त्याग करना पडता है। धर्म के शासन मे (हृदय के शासन मे) और वैधानिक व्यवस्था मे परस्पर सतुलन हो तो सामाजिक जीवन अधिक स्वस्थ हो सकता है। जिन लोगो ने समाज-व्यवस्था को समानता के आधार पर प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है, उन्होने धर्म के प्रति ग्लानि का भाव प्रकट किया है। ऐसा करके उन्होने अपनी व्यवस्था मे ज्वालामुखी की शृखला को अवकाश दिया है। सत्य की निष्ठा को समाप्त कर समस्याओ को सुलझाने की मनोवृत्ति नयी समस्याओ के बीज बोने की मनोवृत्ति होगी।

मै धर्म के क्षेत्र मे क्राति की अपेक्षा मानता हू। पर धर्म की समाप्ति के लिए नही, किन्तु उसकी शुद्धि के लिए। जल की गदगी को मिटाने की बात समझ मे आ सकती है किन्तु जल के प्रति ग्लानि करने की बात समझ मे नही आती। पुराने लोगो ने धर्म के साथ समानता पर आधृत समाज-व्यवस्था का सम्पादन नही करके शायद भूल की थी और आज वे लोग समानता पर आधृत समाज-व्यवस्था मे से धर्म को अलग कर भूल कर रहे है। इन दोनो भूलो का परिमार्जन धर्म और समानता पर आधृत समाज-व्यवस्था के योग से हो सकता है। अणुव्रत इसी दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित है।

अणुव्रत की अपेक्षा

मेरी दृष्टि मे मानवीय विकास की सर्वोच्च भूमिका व्रत है। व्रतविहीन मनुष्य का मानवीय एकता मे विश्वास नही हो सकता। उच्छृङ्खल व्यवहार व्रत-विहीनता या असयम की स्थिति मे पनपते हैं। अपने आस-पास देखता हू तो मुझे दिखता है कि लोग धार्मिक बनना चाहते है पर व्रती बनना नही चाहते। किन्तु उन्हे समझना चाहिए कि आत्मसयम के बिना धार्मिकता विकसित नही हो सकती।

विलासी मनोवृत्ति

विलासी मनोवृत्ति जीवन का सबसे बडा खतरा है। जीवन का लक्ष्य जैसे ही शिथिल होता है, वैसे ही विलासी वृत्ति उभर आती है। कठोर जीवन जिए बिना

कोई भी राष्ट्र शक्तिशाली नही हो सकता। अणुव्रत सयत और स्वावलबी जीवन-पद्धति का प्रेरक है।

प्रान्तीयता की समस्या

मैने कुछ स्थायी समस्याओ की चर्चा की। अब मैं वर्तमान समस्याओ की ओर आप लोगो का ध्यान खीचना चाहता हूं। प्रान्तीयता आज की ज्वलत समस्या है। हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है। फिर भी एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्त मे सुरक्षित नही है। कभी-कभी ऐसा सदेह होने लगता है कि क्या यह एक राष्ट्र है? प्रान्तीय निष्ठा ने राष्ट्रीय निष्ठा को निस्तेज बना दिया है। प्रान्तीयता के पनपने मे कुछ दोष राजनीतिक दलो का है और कुछ व्यापारियो का है। व्यापारिक लोग प्रान्तवासी लोगो के साथ सामंजस्य स्थापित करके चलें, उनके स्वार्थों और हितो पर बराबर ध्यान दे तो समस्या को उग्र बनने से रोका जा सकता है। राजनीतिक दलो का भी यह पवित्र कर्तव्य है कि वे प्रान्तीयता को उभार न दें। इससे न केवल राष्ट्रीय एकता किन्तु मानवता खतरे मे पड़ती है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शत्रु बन जाता है। अणुव्रत मानवीय एकता का प्रबल समर्थक है। इसलिए हर अणुव्रती को प्रान्तीयता के विष से मुक्त रहना चाहिए।

हिसक उपद्रव

हिन्दुस्तान के अनेक भागो मे समय-समय पर हिंसक उपद्रव भडक उठते है। महात्मा गाधी ने राष्ट्रीय वृक्ष को अहिंसा की निष्ठा से सीचने का प्रयत्न किया था, वह प्रयत्न व्यर्थ ही गया, ऐसी अनुभूति हो रही है। अहिंसा के बिना राष्ट्रीय चरित्र विकसित नही होता और राष्ट्रीय नीति व जीवन-पद्धति मे स्थायित्व नही आता, हिंसा का आवेश बढ़ता जाता है।

मै हिंसा को सर्वथा अवाछनीय मानता हूं। फिर भी हिंसा की पृष्ठभूमि मे विद्यमान कारणो की उपेक्षा को भी अनुचित मानता हूं। असाधारण विषमता टिक नही सकती। प्रबुद्ध युग उसे सह नही सकता। उच्चवर्ग इस स्थिति का अनुभव करे तो हिंसा मे कमी आ सकती है। शासन-तत्र मे बैठे लोग भी अपनी नीति मे कुछ हेर-फेर करे तो सहज ही हिंसा टल सकती है। हिंसक उपद्रवो द्वारा बाध्य हुए बिना सरकार समस्या पर ध्यान नही देती, इस धारणा को बदले बिना समय-समय पर होने वाले गोलीकाडो को रोका नही जा सकता। क्या सरकार कर्तव्य-बुद्धि व औचित्य के आधार पर बाध्य हुए बिना समस्या को नही सुलझा सकती?

अन्याय का प्रतिकार

अन्याय का प्रतिकार नही होता है तो अन्याय बढता है । कोई भी आदमी यह कैसे कह सकता है कि अन्याय का प्रतिकार न किया जाए । किन्तु उसके प्रतिकार का तरीका केवल हिसा ही नही है । अहिसात्मक ढग से भी उसका प्रतिकार किया जा सकता है । मैंने इस बार प्रतिरोधात्मक अहिसा पर बहुत बल दिया है । मै अणुव्रत कार्यकर्ताओ से कहना चाहता हू कि वे कोई उचित व विवेकपूर्ण मार्ग ढूढे, जिससे अहिसात्मक पद्धति के द्वारा सामूहिक रूप से अन्याय का प्रतिकार किया जा सके ।

जीवन के हर क्षेत्र मे हिसा के सामने अहिसा का, स्वार्थपरता के सामने नि स्वार्थता का तथा धन की मूर्च्छा के सामने धन की अनासक्ति का विकल्प प्रस्तुत करना अणुव्रत का लक्ष्य है। इसलिए आगामी वर्ष का कार्यक्रम उसी लक्ष्य की पूर्ति के आधार पर बनना चाहिए । कार्य की प्रयोगात्मक दिशा को विकसित करना अपेक्षित है । मुझे आशा है कि अणुव्रती इस दिशा मे गहराई से चिन्तन करेंगे ।

अणुव्रत-आचार-सहिता को व्यापक कार्यक्रमो की पृष्ठभूमि के रूप मे विकसित किया गया है । उससे कार्य को गति मिलने की सभावना है ।

इस वर्ष हमारे साधु-साध्वियो ने अणुव्रत को व्यापक बनाने मे काफी प्रयत्न किया है । मैं उन्हे उनके शुभ प्रयत्न के लिए हार्दिक बधाई देता हू । अनेक कार्यकर्ताओ ने भी इस दिशा मे अपना समय और शक्ति लगाई है, उसका मैं स्वागत करता हूं । मुझे आशा है हम मिलकर कार्य को आगे बढ़ाने मे कृत-सकल्प होगे ।

स्वार्थ चेतना : नैतिक चेतना

पिछले बीस वर्षों से हम जिस विषय की चर्चा करते आ रहे हैं, उसी विषय की चर्चा करने के लिए आज पुनः एकत्र हुए है।

चर्चा करना और एकत्र होना अच्छी बात है। किन्तु उसकी अच्छाई का आधार उसका परिणाम हो सकता है। हमारी चर्चा का और हमारे एकत्र होने का क्या कोई परिणाम आ रहा है ? या हम भावना के बल पर ही चर्चा और मिलन के क्रम को आगे बढा रहे है ? यह एक प्रश्न है और गंभीर प्रश्न है। इसका उत्तर पाए बिना हम भावी कार्यक्रम की रेखा नही खीच सकते।

नैतिक अभियान का संकल्प

एक दिन मुझे लगा कि नैतिक विकास का प्रयत्न होना चाहिए। आस-पास रहने वाले लोगो के लिए एक छोटी-सी योजना बनायी गयी। उसका नाम रखा गया अणुव्रत।

नाम बहुत पुराना और रूप नया। मेरे आस-पास रहने वाले लोग अधिक सख्या मे जैन थे। वे जैन-धर्म के अनुयायी थे। अत. उनके लिए नया धर्म चलाने की किसी आवश्यकता का अनुभव नही हो रहा था। इस बात की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था कि उनका व्यवहार नैतिक बने।

धार्मिक का व्यवहार नैतिक न हो यह बहुत आश्चर्य की बात है। पर आज के धार्मिक समाज मे यह बहुत आश्चर्य की बात नही रही है। मैंने धार्मिक को नैतिक बनाने का सकल्प किया और उसके लिए अणुव्रत का काम प्रारम्भ किया।

मानव-धर्म की स्थापना

कार्य के प्रारम्भ मे मुझे सूझा कि नैतिकता का मार्ग सबके लिए उपयोगी है,

फिर इसे कुछ लोगो तक ही सीमित क्यो रखा जाए ? इस चिन्तन के बाद इसे व्यापक रूप दिया गया। फलस्वरूप—

१. अणुव्रत धर्म क्राति का वाहक बन गया, किसी धर्म-सम्प्रदाय का बाधक नही रहा।
२. वह मनुष्यमात्र के लिए हो गया, किसी जाति या वर्ग विशेष का नही रहा।
३ वह सार्वदेशिक हो गया, किसी देश विशेष का नही रहा।

निष्कर्ष की भापा मे कहा जा सकता है कि अणुव्रत के बहाने जाने-अनजाने मानव-धर्म की स्थापना हो गई।

मानव-धर्म वही हो सकता है, जो केवल धर्म हो, सम्प्रदाय न हो।

मानव-धर्म वही हो सकता है, जो किसी के द्वारा अधिकृत न हो।

अणुव्रत आदोलन का ध्येय और प्रगति

अणुव्रत के माध्यम से मै तीन काम करना चाहता था

१ जनसाधारण मे नैतिक निष्ठा उत्पन्न करना।
२. धार्मिक के जीवन मे व्याप्त धर्म-स्थान और कर्म-स्थान की विसगति को दूर करना।
३ व्रत के द्वारा सामाजिक समस्याओ का समाधान करना।

कोई भी ध्येय पूर्ण हुआ है, ऐसा नही कहा जा सकता। प्रथम ध्येय मे कुछ सफलता मिली है, दूसरे मे कम और तीसरे मे उससे भी कम।

नैतिकता के अभियान मे कुछ कठिनाइया है

१. गरीबी।
२. वडप्पन के मापदण्ड
३. अनैतिकता के प्रत्यक्ष लाभ।
४ बुराई का फल बुरा होता है—इस सिद्धात के प्रति अनास्था।
५. नैतिकता और अनैतिकता से होने वाले लाभ और अलाभ का अपरिचय।

१ महगाई के जमाने मे पेट-भर रोटी नही मिलती, उस स्थिति मे मध्यम वर्ग के कर्मचारी यदि रिश्वत ले लेते है और मध्यम वर्ग के व्यापारी यदि अप्रामाणिकता बरतते है, उसमे कौन-सा बडा दोष है ? इस मान्यता के आधार पर मध्यम वर्ग मे अनैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

२ सम्पन्न व्यक्तियो को एक शादी मे चालीस-पचास हजार रुपये चाहिए। यदि वे अप्रामाणिकता न बरते तो उनकी लडकियो की शादी कैसे हो ? उनका घरेलू खर्च कैसे चले ? इस मान्यता के आधार पर सम्पन्न वर्ग मे अनैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

३. एक आदमी अनैतिक आचरण करता है और दूसरा नही करता। अनैतिक आचरण करने वाला सम्पन्न हो जाता है, मकान बना लेता है, उसके अनेक मित्र हो जाते है तथा उसे सब प्रकार की सुख-सुविधा और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। नैतिक आचरण करने वाला उतना धन नही कमा पाता। इसलिए उसे उतना सामाजिक महत्त्व भी नही मिलता और पर्याप्त सुविधाए भी नही मिलती। इस स्थिति मे अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

४. किसी जमाने मे इस सिद्धात—बुराई का फल बुरा होता है—से समाज अनुशासित था। फलत वह बुराई से बचता था और यदि किसी व्यक्ति से कोई बुराई हो जाती तो वह उसका प्रायश्चित्त करता था। आज उस सिद्धात के प्रति आस्था टूट चुकी है। दूसरा नया सूत्र कोई आया नही है, जो समाज को बुराई से बचाने मे उतना समर्थ हो। इस सैद्धातिक रिक्तता के कारण भी अनैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

५. कुछ लोग अनैतिक आचरण के द्वारा तात्कालिक लाभ उठा लेते है। किन्तु जब अधिकाश लोग अनैतिक आचरण करने लग जाते हैं तब लाभ की अपेक्षा कठिनाइया अधिक बढ जाती हैं किन्तु अनैतिक आचरण करने वालो को इस तथ्य का ज्ञान नही है।

समाज एक शृखला है, उसकी एक कडी मे गडबड होने पर सारी शृखला ढीली हो जाती है।

समाज एक जलाशय है। उसमे एक ढेला फेकने पर इस छोर से उस छोर तक लहरे उठ जाती है।

किन्तु जिन्हे व्यक्ति की बुराई के सामाजिक परिणामो का बोध नही होता, वे व्यक्तिगत हित साधने के लिए विप-बीज बोते रहते है और फलत. अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता रहता है।

नैतिक अभियान के सामने आने वाली कठिनाइयो की मैंने सक्षेप मे चर्चा की है। विस्तार मे जाएं तो अनगिन कठिनाइया है। इन कठिनाइयो के कारण किसी भी नैतिक अभियान के तत्काल व सोलह आना सफल होने की आशा कैसे की जा सकती है।

बल-प्रयोग और हृदय-परिवर्तन

सत्ता के बल पर किये जाने वाले अभियान भी कठिनाइयो व विफलताओ मे मुक्त नही होते तब हृदय-परिवर्तन के आधार पर चलने वाले अभियान कैसे तत्काल सफल हो सकते है!

आप पूछ सकते है कि फिर ऐसे अभियान क्यो चलाये जाए, जो तत्काल और पूर्णत. सफल नही होते ?

तात्कालिक परिणाम की आशा सत्ता से की जा सकती है। पर उसकी कठिनाई यह है कि जैसे-जैसे समय बीतता है उसके परिणाम शिथिल होते जाते है।

हृदय को प्रभावित करने वाले अभियानो का तात्कालिक परिणाम दिखाई नही देता। पर जैसे-जैसे समय बीतता है वैसे-वैसे उनके परिणाम विकासशील और सुदृढ होते जाते हैं। कोई भी समझदार आदमी तात्कालिक परिणाम के लिए दीर्घकालिक परिणाम की उपेक्षा नही कर सकता।

भावी कार्यक्रम का आधार

हिसा, सग्रह और अनैतिक मूल्यो के प्रति जिस वेग से आस्था बढ़ रही है, उसी वेग से यदि नैतिक अभियान ने काम नही किया तो क्या दीर्घकालीन परिणाम की आशा की जा सकती है ? यह प्रश्न बडी तत्परता से पूछा जाता है। किन्तु इसका उत्तर उतनी तत्परता से नही दिया जा सकता।

आज अधिकाश लोग अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि मे सलग्न है। स्वार्थसिद्धि को बुरा भी नही कहा जा सकता। किन्तु दूसरो के स्वार्थों को विघटित कर अपना स्वार्थ साधना निश्चित ही बुरा है और बहुत बुरा है। समाज मे इस बुराई के प्रति घृणा उत्पन्न हुए बिना नैतिकता के भाग्य के बारे मे कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती।

मै नैतिकता को व्यवस्थाओ व विधि-विधानो के साथ नत्थी नही करता। मै उसे व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय की अच्छाई के साथ जोडता हू। जो व्यक्ति अपना हित साधने के लिए दूसरो का विघटन नही करता, दूसरो के प्रति क्रूर व्यवहार और विश्वासघात नही करता, उसे मै नैतिक आदमी मानता हू।

अणुव्रत अभियान सस्कार-निर्माण का अभियान है। एक आदमी सकरी पगडडी द्वारा पहाड पर सीधा चढ सकता है। पर हजारो-हजारो लोग और वाहन वैसे नही चढ सकते। सडक बनाने मे समय लगता है पर उसके बनने पर एक बच्चा भी पहाड की चोटी तक पहुच सकता है। हमे निष्ठा के साथ काम करना चाहिए। सफलता की उतावली मे यथार्थ को नही भुला देना चाहिए। मैं यह चाहता हू कि अभियान के प्रयत्न तीव्र हो, सघन हो और व्यवस्थित हो।

मद अग्नि से पानी गर्म नही होता। अग्नि मे पर्याप्त ईंधन डालने पर ही पानी गरम हो सकता है।

पाच-पाच हाथ के पचासो गड्ढे खोदने पर भी जल नही निकलता। यदि पचास हाथ का एक ही गड्ढा खोदा जाता है तो जल निकल आता है।

इधर-उधर बिखरी ईंटो से मकान नही बनता। मकान बनाने के लिए उन्हे व्यवस्थित ढग से जचाना होता है। अणुव्रत अभियान का भावी कार्यक्रम इन्ही तत्त्वो पर आधारित होना चाहिए।

१. अभियान को तीव्र करने के लिए जनता तक पहुचना व उसे नैतिकता से होने वाले लाभ समझाना जरूरी हे। 'तुम्हे नैतिक बनना चाहिए'—यह उपदेश है। इससे बहुत सफलता की आशा नही की जा सकती।

आप नैतिकता और अनैतिकता के परिणामो का विश्लेपण कीजिए। जनता किस ओर आकृष्ट होती है, यह उसी पर छोड दीजिए। यदि आपकी शैली समर्थ है और आप उसके हृदय तक पहुच सकते हैं तो कोई कारण नही कि वह नैतिकता के लाभ से प्रभावित न हो। सूत्र की भाषा मे नैतिकता का उपदेश उस (नैतिकता) के विकास का मद प्रयत्न है और नैतिकता का प्रशिक्षण उसके विकास का तीव्र प्रयत्न है।

यह प्रसन्नता की बात है कि नैतिक शिक्षण की ओर केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारो का ध्यान आकृष्ट हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन को इस कार्य मे अपनी शक्ति का नियोजन करना चाहिए और नैतिक शिक्षा के कार्यक्रम को प्राथमिकता देनी चाहिए।

२ नैतिक जीवन जीना चाहिए, यह शुभ सकल्प है। जिस आदमी मे थोडी-सी भी सत् की मात्रा है, वह सकल्प को स्वीकार करना चाहेगा। किन्तु नैतिक जीवन जीने मे आने वाली कठिनाइयो को पार करने का मार्ग न सूझे तब आदमी नैतिक मार्ग से दूर हट जाता है।

इस स्थिति मे क्या अणुव्रत समिति का यह कर्तव्य नही होता कि वह नैतिक जीवन जीने के प्रयोग प्रस्तुत करे?

एक शिक्षक, राज्य कर्मचारी और व्यापारी नैतिक आचरण करते हुए अपना जीवन अच्छे ढग से कैसे चला सकता है, इसके प्रयोग प्रस्तुत किये जाए तो नैतिक विकास मे बहुत योग मिल सकता है।

अणुव्रत का मार्ग यह नही है कि नैतिक बनने के लिए काम छोड दिए जाए। काम छोड देने पर नैतिक और अनैतिक बनने का प्रश्न नही उठता। अपना काम करते हुए आदमी अनैतिक आचरण न करे—बस यही अणुव्रत का ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए विकल्पो की खोज करना और उनका प्रयोग जनता के सामने प्रस्तुत करना अणुव्रत समिति का काम है। नैतिकता की प्रतिष्ठा कोरे वाचिक प्रयत्नो से ही नही हो सकती। उसके लिए सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे प्रायोगिक कार्य करना जरूरी होता है।

भगवान् ऋषभ जब राजा थे तब उन्होने प्रजाहित के लिए असि, मसि और कृषि का प्रवर्तन किया। एक आचार्य के मन मे यह प्रश्न पैदा हुआ कि कृषि आदि मे हिंसा है, फिर भगवान् ऋषभ ने उनका प्रवर्तन कैसे किया? इस प्रश्न का समाधान भी उन्होने किया है। उनका कहना है कि उस समय प्राकृतिक खाद्य का अभाव हो रहा था। उसके कारण लोग चोरी और छीना-झपटी करने लग गये थे। भगवान् ऋषभ ने चोरी छुडाने के लिए जनता को कृषि आदि का प्रशिक्षण दिया।

जीविका के अप्रामाणिक तरीको के सामने यदि प्रामाणिक तरीके प्रस्तुत न किए जाए तो नैतिक विकास की आशा आत्मविश्वास के साथ नही की जा सकती।

अणुव्रत का मुख्य कार्य सस्कार-निर्माण है। इसलिए उसका मुख्य कार्यक्षेत्र शिक्षा-जगत् होना चाहिए। सस्कार-निर्माण के क्षेत्र मे शिक्षक जितना काम कर सकते है, उतना अन्य लोग नही कर सकते। मै चाहता हू कि इस कार्य मे शिक्षको का अधिक से अधिक योग प्राप्त किया जाए।

त्याग और नैतिक चेतना

भोग और स्वार्थ चेतना प्रकृति मे जागृत रहती है। इसलिए मनुष्य अपनी सुख-सुविधा के लिए निरन्तर दौड रहा है। उसमे त्याग और नैतिक चेतना जगानी होती है। अणुव्रत ने इस दिशा मे एक प्रेरणा का सूत्रपात किया है। हम यह दावा नही कर सकते कि सारी दुनिया मे इस प्रकार की चेतना को जगा देंगे। मैं बहुत विनम्रता के साथ कहना चाहता हू कि मुझे इस काम मे सबका हित लगता है। इसलिए मै और मेरे सहयोगी इस क्षेत्र मे काम करते है। क्या, कितना होगा, इसका भार उठाना हमारे लिए सभव नही है।

क्या स्वार्थ चेतना समाप्त हो जायेगी? क्या मनुष्य कभी पूरा नैतिक बन जायेगा? ऐसे प्रश्नो मे उलझे विना हमारा काम इतना ही है कि हम स्वार्थ चेतना के विरोध मे नैतिक चेतना के जागरण का अभियान निरन्तर चालू रखे।

मै समस्या के स्थायी समाधान मे कभी विश्वास नही करता। सूर्य प्रतिदिन प्रकाश देता है और अधकार को हरता है। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी मे है कि वह समस्याओ के सामने समाधान की लौ जलाता रहे।

मेरी दृष्टि मे समस्याओ का यही स्थायी समाधान है। चिन्तन की इसी भूमिका के आधार पर हमने अणुव्रत का काम किया है और करते रहेगे।

(उन्नीसवा अखिल भारतीय अणुव्रत सम्मेलन, मद्रास)

जैन मुनि की आचार-परंपरा : एक सुलगता हुआ सवाल

दीक्षा क्या है ?

दीक्षा वह सस्कार है, जो जीवन को रूपान्तरित करता है और व्यक्ति को बंधन मुक्ति की दिशा मे अग्रसर करता है । उसके अनेक प्रकार है । जैसे—मत्र-दीक्षा सम्यक्त्व-दीक्षा, व्रत-दीक्षा, मुमुक्षु-दीक्षा, समण-दीक्षा, मुनि-दीक्षा, जिनकल्प दीक्षा, वीतराग-दीक्षा आदि ।

मत्र-दीक्षा बच्चो को दी जाती है। इससे जैन धर्म के मूलमत्र नमस्कार महामंत्र के प्रति आस्थाभाव जागृत होता है और धार्मिक जीवन का न्यूनतम अनुष्ठान शुरू हो जाता है। सम्यक्त्व-दीक्षा उन सबके लिए है, जो अपनी धार्मिक आस्था को केन्द्रित कर देव, गुरु और धर्म की पहचान बनाना चाहते हैं। व्रत-दीक्षा श्रावकत्व की विशिष्ट भूमिका है। इसमे भगवान् महावीर द्वारा निरूपित बारह व्रतो के आचरण का सकल्प स्वीकार किया जाता है। मुमुक्षु-दीक्षा उन भाई-बहनों के लिए है, जो ससार से विरक्त हो और अपने परीक्षण काल को साधना और शिक्षा के अभ्यास मे बिताना चाहते हो। यह दीक्षा स्वीकार करने वालो को पारमार्थिक शिक्षण सस्था मे रहना होता है। समण-दीक्षा गृहस्थ और मुनि के बीच की एक श्रेणी है। इसमे गृहस्थ जीवन छूट जाता है, पारिवारिक रिश्ते टूट जाते है और साधना का विशेष क्रम लागू होता है, किन्तु मुनि जीवन की मर्यादाओ मे कुछ छूट रहती है। मुनि-दीक्षा मे सब प्रकार की सपाप प्रवृत्तियो का प्रत्याख्यान किया जाता है। मुनि बनने के बाद भी कुछ दीक्षाए, जिनका सम्बन्ध साधना के विशिष्ट प्रयोगो से है। अहालदक मुनि अप्रमाद की साधना करते हैं। जिनकल्प मुनि कठोर अभिग्रह और तप स्वीकार करते है। मुनि दीक्षा की आखिरी श्रेणी वीतराग दीक्षा है। इसमें यथाख्यात चारित्र की उपलब्धि होती है, राग-द्वेष की ग्रथिया खुल जाती हैं और सिद्धि का प्रमाण-पत्र मिल जाता है।

समण-दीक्षा एक नया प्रयोग

इन सब दीक्षाओ मे समण-दीक्षा भी एक विशिष्ट दीक्षा है। यह हमारी स्वोपज्ञ दीक्षा है और सबसे पहले हमने इस दीक्षा को विलक्षण दीक्षा की सज्ञा दी थी। हमारे पूर्वजो द्वारा खीची हुई लकीरो से हटकर एक नया प्रयोग होने के कारण इस दीक्षा की विलक्षणता स्वत सिद्ध है। यह एक सुचिन्तित और सोद्देश्य चिन्तित प्रयोग है। इसलिए इसकी सीमाओ और सभावनाओ को लेकर हमारे मन मे किसी प्रकार का ऊहापोह नही है।

कुछ मुनि ऊपर से नीचे की ओर

आज अनेक मुनि ऊपर से नीचे की ओर आ रहे है। वे ऊर्ध्वगमन से अधोगमन कर रहे है। कुछ मुनि कहते है—मुनियो के लिए पदयात्रा बहुत कष्टप्रद हो रही है, इसलिए यान-वाहन का प्रयोग होना चाहिए। इससे समय का अधिक उपयोग होगा और दुविधाए दूर होगी। कुछ मुनियो का अभिमत है—केशलुचन की परम्परा युगानुकूल नही है, इसमे परिवर्तन होना चाहिए। कुछ मुनि भिक्षा-विधि को असामयिक करार दे रहे है। कुछ मुनि ज्योतिष का सहारा लेकर अपनी आजीविका का रास्ता प्रशस्त कर रहे हैं। वे हस्तरेखा देखते है, कुण्डली बनाते है, यहां तक कि महिलाओ और लड़कियो के हाथ देखकर उनको भविष्य बतलाते है। भौतिक सिद्धि के लिए मत्र के प्रयोग, टोने-टोटके आदि बताने का सिलसिला भी शुरू हो गया है। कुछ मुनि जब चाहा मुख-वस्त्रिका लगा लेते है और जब चाहा खोल लेते है। समाज मे पूजा पाना अथवा भिक्षा और अन्य सुविधाए जुटाना, इससे अधिक मुख-वस्त्रिका का कोई उपयोग उनकी दृष्टि मे है, ऐसा महसूस नही होता। कुछ मुनि साधुत्व की सब सीमाओ का अतिक्रमण कर कुछ भी कर लेने मे सकोच का अनुभव नही करते।

सुविधावाद पर अकुश लगाना जरूरी

साधु-वेश की इस विडम्बना को देखकर मन एक साथ ही चिन्ता और पीडा से भर जाता है। उस पर भी आश्चर्य यह है कि जैन मुनि की आचार-परम्परा को उलटने वाले इस वर्ग पर समाज मे कोई अगुली उठाने वाला भी नही है। इस क्रम को देखते हुए तो ऐसा लगता है कि स्थिति और अधिक बदतर होती जाएगी। समय का तकाजा है कि इन मुद्दो पर गभीरतापूर्वक विचार हो और साधु-समाज की महत्त्वाकाक्षा एव सुविधावादिता अपना मार्ग बदलकर साधुता का मूल्य प्रतिष्ठित करे।

परपरा-परिवर्तन का यह जो क्रम चल रहा है, युगधारा की ओट सुविधावाद का नया प्रयोग है। एक अपवाद-सेवन के बाद दूसरा, उसके बा तीसरा और फिर चौथा, इस प्रकार एक शृखला आगे बढ रही है। अपवाद-सेव की बात भी तब आती है, जब कोई विशेष परिस्थिति सामने हो। अकारण ही नयी-नयी सुविधाओ का उपयोग और उसके विरोध मे कही कोई आवा उठाने वाला नही। इससे उन लोगो को निरकुश मनमानी करने का मौका मिलत है।

व्यवस्थित आचार सहिता

जैन मुनियो की आचार परपरा जितनी प्राचीन है, उतनी ही सुचिन्तित औ व्यवस्थित है। इसे व्यवस्थित करने मे हमारे पूर्वजो का कितना समय और श्र लगा होगा। आज तक इस आचार-सहिता को जीने वाले जैन मुनियो के प्र समाज मे घनीभूत आस्था और समादर की भावना रही है। कुछ स्वच्छन्द व्यक्तियो द्वारा इस परम्परा को तोडने का प्रयत्न जैन दर्शन और सस्कृति के प्रति गहरी होती हुई आस्था को कमजोर बनाने का प्रयत्न है।

यह जो स्वेच्छाचार का क्रम चल रहा है, कोई भी तटस्थ आलोचक इसे आचार-शैथिल्य का पोषक और स्वच्छन्दता को प्रवाहित करने का मार्ग कहे बिना नही रह सकता। क्योकि इसमे अध्यात्म, धर्म या परमार्थ सब गौण हो जाते है। केवल लोक-सग्रह, आत्म-श्लाघा और सस्ती वाहवाही के लिए किए जाने वाले कोई उपक्रम क्या जैनत्व के गौरव को सुरक्षित रख सकेंगे?

सुविधावादियो का अहिसात्मक प्रतिरोध

यह प्रश्न किसी एक व्यक्ति या सम्प्रदाय का नही, समूचे जैन समाज का है। सुविधावादी मूल्यो के सहारे जीने वाले लोग कुछ भी सोचें, किन्तु जैनत्व की मौलिकता या उसकी तेजस्विता को बचाने के लिए जैन समाज को सघर्ष के लिए कटिबद्ध रहना होगा। एक अहिसात्मक सघर्ष, जो किसी व्यक्ति विशेष के प्रति रोष और आक्रोश के भाव को जन्म दिए बिना उक्त सुविधावादिता को अमान्य घोषित करे और उसके विरोध मे सशक्त आवाज उठाए ताकि हमारी हजार वर्षो की गौरवमयी सास्कृतिक विरासत सुरक्षित रह सके।

युग-बोध के सन्दर्भ मे जैन मुनियो की आचार-परपरा पर गभीर अध्ययन किया जाए तो कुछ परम्पराओ मे परिवर्तन की अपेक्षा अनुभव हो सकती है। परिवर्तन से हमारा विरोध भी नही है। पर उसका कोई रास्ता तो होना चाहिए। हमारे अभिमत से जैनो की एक सर्वमान्य उपसमिति हो, जिसमे आचार-निष्ठ

बहुश्रुत और सघमान्य व्यक्तियो का वर्चस्व हो। वे सब मिलकर कुछ नीतियो का निर्धारण करे और आगमानुमोदित परिवर्तन की बात सुझाए। आगमसोची सूझ-बूझ, अनाग्रही और निरपेक्ष चिन्तन से प्रसूत उनके निर्णयो को जैन-सघ मान्य करे, यह एक व्यावहारिक रास्ता है। इससे जैन सम्प्रदायो के बीच तादात्म्य भाव भी बढ सकता है।

समण श्रेणी में कुछ बातो की छूट

समण श्रेणी की स्थापना करते समय हमारे मस्तिष्क मे ये सभी बाते थी। इसमे जैन मुनि की आचार सम्बन्धी कुछ बातो की सहज छूट रखी गई है, किन्तु वह लोकरंजन और लोकसग्रह के लिए नही है। इस श्रेणी मे दीक्षित होने वालो के सामने कुछ विशेष बिन्दु है, जिन पर केन्द्रित रहकर उन्हे अपनी यात्रा करनी है। कुछ बिन्दु ये है :

- अध्यात्म साधना
- उच्चस्तर का अध्ययन
- जैनत्व के प्रति आस्था का सुदृढीकरण
- जैन शासन की प्रभावना

यहा प्रश्न उठ सकता है कि जैन मुनियो की आचार-परम्परा मे परिवर्तन करने वालो का भी तो यही लक्ष्य हो सकता है। लक्ष्य यही होता होगा, किन्तु दिशा और साधन-सामग्री भी लक्ष्य के अनुरूप ही हो, तब सफलता मिलती है। मुनि बनने के बाद स्वीकृत व्रतो को शिथिल करना ऊपर से नीचे जाने का मार्ग है। उसी वेश और परिवेश मे स्वेच्छाचारिता को अपनाना आत्मवचना का मार्ग है।

समण श्रेणी ऊपर से नीचे आने का नही, नीचे से ऊपर जाने का रास्ता है। यह गृहस्थ जीवन को छोडकर सन्यास की ओर अभिगमन है। इसमे साधना, सेवा, शिक्षा, यात्रा आदि की दृष्टि से जो उपक्रम है, वे वैयक्तिक साधना के साथ धर्मसघ और समाज के लिए भी विशेष उपयोगी है।

पिछले वर्ष दो समणिया लन्दन की यात्रा पर गई थी। उन्होने वहा सात सप्ताह बिताए। अपने प्रवासकाल मे उन्होने वहा के गुजराती जैन लोगो से सपर्क किया। उन्होने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—'जैन मुनि यहा आते है। वे अपने सयम और साधना की बात को भूलकर पैसा बटोरने मे लग जाते है। उनका यह काम हमे बिलकुल पसन्द नही है। आपका क्रम बहुत अच्छा है। न आप नियमो को तोडते है और न पैसा बटोरते है।' ऐसे माध्यम ही यहा जैन धर्म के वर्चस्व को उजागर कर सकते है। गुजराती लोगो के इस कथन मे एक टीस है,

पीड़ा है, जो हमे आगाह करती है कि किसी भी स्थिति मे जैन मुनियो की छवि को धूमिल नही होने देना है।

समण-दीक्षा : समय की मांग

समण-दीक्षा समय की माग है। इसलिए प्राय: सब लोगो ने इसको पसन्द किया है। इसका भविष्य उज्ज्वल है। फिर भी इसे लेकर समाज मे कुछ आशकाए हैं। उन आशकाओ का कोई धरातल हो या नही, फिर भी मैं उन्हे अन्यथा नही मानता। क्योकि किसी भी नयी प्रवृत्ति पर समाज मे ऊहापोह होता है, वह उसकी जीवंतता और जागरूकता का सूचक है।

समण श्रेणी मे दीक्षित होने वाली बहनो पर भी यह जिम्मेदारी है कि वे अपनी श्रेणी की मौलिकता और उज्ज्वलता को सुरक्षित रखती हुई अपने क्षेत्र मे आगे बढे। इसके लिए उन्हे अहकार-विजय और ममकार-विजय की साधना करनी होगी। यह भारतीय सस्कृति और जैन सस्कृति का बहुत बडा आदर्श है। इस आदर्श को आत्मसात कर ये हमारे देश मे ही नही, देश से बाहर पहुचकर भी धर्म की प्रभावना मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकेगी। इसकी भावी सभावनाओ से भी मैं आश्वस्त हू। वे सभावनाए जितनी जल्दी उजागर होगी, समण श्रेणी की उपयोगिता उतनी ही अधिक बढ़ेगी।

युवा पीढ़ी का दायित्व

पिता ने अपने पुत्रो को अपने पास बुलाया और स्नेह भरे शब्दो मे कहा—हमारा यह हरा-भरा बगीचा फलो और फूलो से महकता हुआ, रग-बिरगे पक्षियो से चहकता हुआ, हर मौसम मे जिसका पत्ता-पत्ता नाचता हुआ, थके-मादे-हारे पथिको के लिए एक विश्वसनीय सहारा—ऐसा है हमारा यह बगीचा, जिसको मेरे प्रपितामह ने अपने हाथो से लगाया, जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए जी तोडकर मेहनत की, ठिठुरती सर्दी, चिलचिलाती धूप, बर्फीली हवाए और मूसलाधार वर्षा, इन सबकी परवाह नही करते हुए जिन्होने एक-एक बीज को देख-परखकर अपने हाथो से बोया, अपने खून-पसीने से सीचा, सुरक्षा के लिए चारो ओर बडा प्रबध किया और जब माटी को फूटते हुए देखा अकुर के रूप मे तब इस बगीचे को सौप दिया मेरे पितामह के हाथो मे, पूरी सतर्कता से इसकी देखभाल करने के लिए।

मेरे पितामह ने उसी मेहनत और लगन से इस बगीचे की सार-सभाल की, व्यवस्थित क्यारिया बनाई, आवारा जानवरो से इसे बचाया, सुरक्षा-व्यवस्था को और कडा किया, प्यार और ममता भरे हाथो से सीचा, अपना सोना, उठना, बैठना, खाना-पीना सब इन्ही पेड-पत्ते-पौधो के बीच किया, इनके दु ख मे अपना दु ख और सुख मे अपना सुख माना, अपना पूरा जीवन इन्ही के बीच जिया, और जब ये अकुर अपने यौवन मे आने लगे, पेड-पौधो के रूप मे आकार लेने लगे तब सौप दिया इस पेड-पौधो भरे बगीचे को मेरे पिता के हाथो मे, इसकी परवरिश के साथ-साथ इसके फलो और फूलो का आनन्द लूटने के लिए।

मेरे पिता ने अपने पूर्वजो की तरह इसका लालन-पालन किया। इसमे विविध प्रकार के नये पेड-पौधे लगाए, इसकी सीमा को धीरे-धीरे विस्तार दिया, इसके फलो और फूलो की महक से आसपास के चेतन-जगत् को आकृष्ट किया, इसकी बढती हुई महक और चमक से बहकने वाले विरोधियो का उठकर सामना किया, अपनी तपस्या-साधना और बलिदान से इसके एक भी पेड़ पर, एक भी

पौधे पर, एक भी फूल, फल और पत्ते पर आच नही आने दी। और फिर एक दिन सौप दिया इसका दायित्व मेरे कधो पर, इसको सौ गुना विस्तार देने के लिए।

मुझे तो मिला यह चमन भरा-पूरा, फलो और फूलो से लदा हुआ, वासन्ती हवाओ मे लहराता हुआ। मुझे जो करना था वह यह कि इसके फूलो की मदमाती सुगध का आनन्द मैं तो लू ही किन्तु ऐसी व्यवस्था भी करू जिससे अधिक-से-अधिक जन-समुदाय भी इसका आनन्द ले सके। इसके मधुर-मधुर फलो का रसास्वादन मैं तो करू ही, किन्तु यह भी व्यवस्था करू जिससे अधिक से अधिक मानव-समुदाय इसका रसास्वादन कर सके। इसके पेड-पौधो की शीतल छाह मे मैं तो सुख की नीद सोऊ ही, किन्तु ऐसी व्यवस्था भी करू जिससे अधिक से अधिक प्राणी-समुदाय इसकी छाह मे सुख की नीद सो सके। इसके साथ ही मैं इसमे फलो और फूलो के नये-नये प्रयोग करू जो मानव-समुदाय को अधिक तृप्ति दे सके, अधिक आनन्द दे सके, एक शान्तमय और समाधिपूर्ण जीवन जीने का मार्ग प्रस्तुत कर सके। फिर ज्यो-ज्यो इसकी सीमाए बढती गई, इसके विरोधी भी बढते गये। आवारा जानवर भी जहा-तहा से भीतर घुसने की कोशिश करने लगे। नये-नये प्रयोगो से घर के कुछ लोग बिदकने लगे। उन सब विरोधो और अवरोधो का सामना करते हुए मुझे जो भी करना था, किया। मुझे जो सत्य लगा, मैंने उसके लिए बडे-से-बडा सघर्ष भी किया। मुझे जो गलत लगा, बडे से बडे समर्थन के बाद भी मैंने उसे उखाड़ फेंका। मैंने समस्त मानव जाति को सामने रखते हुए सकीर्ण सीमाओ का परित्याग किया। किन्तु इसके साथ ही इसकी गरिमा और महिमा पर, इसके आदर्श और सिद्धातो पर, इसकी गौरवमयी परम्परा और उज्ज्वल इतिहास पर सदा सतर्क नजर भी रखी।

यह है हमारे इस उपवन की सक्षिप्त कहानी, जिस कहानी को इस चमन के जर्रे-जर्रे से उसकी ही जबानी सुना जा सकता है। और आज जो मैंने तुम सबको, मेरी लाडली सतानो को, मेरे योग्य युवा-उत्तराधिकारियो को यहा आमन्त्रित किया है इसके पीछे एक ही कारण है। मैंने जिस व्यापक स्तर पर इस उपवन को विस्तार दिया है, उसके सरक्षण के लिए अब तुमको भी जागरूक रहना है। मैंने जिस वैज्ञानिक स्तर पर नये-नये प्रयोग आरभ किये है, उनके सवहन के लिए तुमको भी मेरा सहभागी बनना है। इसकी पवित्र गौरवमयी परम्परा को सौ गुना विस्तार देने के लिए तुमको अपने बलिदान के लिए तैयारी करना है। बस, यही मुझे तुम लोगो से कहना है।

तुम सोच रहे होगे, हम बिलकुल तैयार है इसके लिए। लेकिन हमें करना क्या है? मैं तुमसे कहता हू तुमको केवल इतना ही करना है कि तुम्हारा हर चिन्तन, तुम्हारी हर प्रवृत्ति, तुम्हारी हर प्रतिभा, तुम्हारी योग्यता, तुम्हारी

शक्ति और सामर्थ्य और तुम्हारी हर सास इस भुवन को सीचने के लिए और तुम्हारी सुरक्षा के लिए सम्पूर्ण रूप से समर्पित रहे। तुम्हारा ऐसा कोई चिन्तन नही होगा, जिससे इसकी गरिमा पर आच आए, तुम्हारा ऐसा कोई कार्य नही होगा, जो आवारा जानवरो को भीतर घुसने मे सहयोगी बनता हो। तुम्हारा ऐसा कोई कदम नही होगा जो इस उपवन की छोटी-सी कली को भी कुचलने वाला हो। फिर जो भी व्यक्ति इस चमन को टेढी नजर से देखता है, उसका करारा उत्तर दिया जाए। जो भी इसके पेड-पौधो को कुचलना चाहता है, उसे कुचल दिया जाए। कुचलने से मेरा मतलब तुम समझ गए होगे, उसे निरस्त और दया का पात्र बना दिया जाए। जो भी आवारा जानवर भीतर घुसने की चेष्टा करे, उनका सख्ती से मुकाबला किया जाए। इसकी सुरक्षा को और अधिक कडा किया जाए और बाहरी दुश्मनो से इसकी पूरी तरह रक्षा की जाए।

इसके साथ ही उपवन की आतरिक सुरक्षा और समृद्धि की जिम्मेदारी भी तुम लोगो पर है। इन गुलाब के पौधो के आसपास कुछ कटीली झाडिया भी उग आयी है, उन्हे काटकर दूर फेकना है। इन आम्र-कुजो के आस-पास कुछ धतूरे भी उग आए है, उन्हे साफ करना है। इन मधुर फलो वाले वृक्षो पर कुछ विष-वल्लरिया चढने की कोशिश मे है, उन्हे उखाड फेकना है। कुछ पेडो की शाखाए इस तरह बढ गई है कि आने-जाने वाले राही-जनो को बहुत खतरा है, उन्हे भी काटकर काम मे लेना है। कुछ फूल और कलिया अपने सौन्दर्य का विज्ञापन करने के लिए उपवन की सम-रसता, सम-लयता और सम-श्रेणी को नष्ट कर रहे है, उन्हे काटना-छाटना है। इसके रास्तो को साफ करना है। इसके पहरेदारो को सावधान करना है। जो पहरेदार दुश्मनो से मिले है उन पर कडी नजर रखना है।

किन्तु हमे हमारी सीमाओ को विस्तार देते जाना है। जो भी इस चमन के फूलो की सुवास से अपने को सुवासित करना चाहे, जो भी इसके फलो का रसास्वादन कर अपने को तृप्त करना चाहे, जो इसके शतशाखी पेडो के नीचे बैठकर सुस्ताना चाहे और जो भी इसकी मजबूत शाखाओ पर झूले डालकर क्रीडा करना चाहे, हमे उसे बिना किसी जाति, लिग, रग और साप्रदायिक भेदभाव के स्थान देना है, अवकाश देना है और देना है हृदय का प्यार और मगलभरी कामनाए। किन्तु इन सबके साथ ही हमारी सतर्कता और सावधानी मे कोई प्रमाद न आए, इसका अवश्य ध्यान देना है।

अन्त मे, पिता ने अपने वक्तव्य का उपसहार करते हुए कहा—इस उपवन की मुसकान ही हमारी मुसकान है। इसके आसू ही हमारे आसू है। इसका सुख ही हमारा सुख है। इसका दुख ही हमारा दुख है। इसका हर श्वास, इसकी हर धडकन और इसका हर स्पदन, यही हमारा जीवन है। आओ, हम इसकी

गोद मे बैठकर नाचे, गाएं, खुशिया मनाए, आनन्द और चैन की वशी बजाए अपने तन से, मन से, धन से, प्रतिभापूर्ण चिन्तन से और अपने समग्र जीवन से इसके गौरवपूर्ण इतिहास मे नये स्वर्णिम अध्याय जोड़े और इसके लिए अपने-अपने दायित्वो को पूरा करने मे सजग प्रहरी की भाति जुट जाए।

प्रकृति की गोद मे बसे दूधालेश्वर महादेव के प्रागण मे शिविर मे भाग लेने वाले युवक बन्धुओ ! आपने चाहा है मैं युवा पीढी के उत्तरदायित्व के बारे मे कुछ कहू। लेकिन इस छोटी-सी कथा के साथ ही मैं अपना वक्तव्य सम्पन्न करता हू। मुझे इसके सिवा आपसे और कुछ नही कहना है। तेरापथ का यह सुरम्य उपवन आपका, मेरा, सबका है। हम अपने-अपने दायित्वो को समझे और उसे पूरा करने मे प्राणपण से जुट जाए। बस, इसी भावना के साथ मैं शिविर का शुभारम्भ करता हू।

अहिंसा का सिद्धांत : श्रावक की भूमिका

अकसर मैं सुनता हू जैन धर्म की अहिंसा ने समाज को कायर बना दिया है। जैन धर्म अहिंसा की सूक्ष्मता मे जाता है। वह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति मे भी जीव मानता है। छोटे-मोटे कीडे-मकोडे मारने मे भी हिंसा मानता है। युद्ध लडने मे भी हिंसा मानता है। शत्रु को मारना भी पाप मानता है। इस पाप-पाप की रट ने पूरे समाज को कायर बना दिया है। युवा पीढी के मन मे समाज की इस स्थिति पर आक्रोश और रोष है। कई बार भावावेश मे आकर युवा वर्ग यह भी कह बैठता है—नही चाहिए हमे ऐसी अहिंसा और शान्ति जो समाज को दब्बू और कायर बनाती है।

समाज की वर्तमान अवस्था को देखकर युवा पीढ़ी के मन मे आक्रोश और रोष होना स्वाभाविक है। युवा वर्ग ही क्यो, मैं कहता हू मुझे भी नही चाहिए ऐसी अहिंसा और शान्ति जो समाज को कायर बनाती है। युवको के इस विचार से भी मैं सहमत हू कि उस अहिंसा की बाते बन्द होनी चाहिए, जो समाज को कायर और कमजोर बनाती है, किन्तु मै इस बात से सहमत नही हू कि जैन धर्म की अहिंसा से ही समाज कायर और शक्तिहीन बना है।

यह सही है कि जैन धर्म पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि को भी सजीव मानता है। सजीव वस्तु का प्राण-हरण करना हिंसा है, पाप है। छोटे बडे प्राणियो को मारना, युद्ध मे लडना, शत्रुओ को मारना तथा अपने पोषण, सरक्षण और सवर्द्धन के लिए की जाने वाली हिंसा हिंसा ही है। वह कभी अहिंसा नही हो सकती। वास्तव मे प्रमाद हिंसा है। जहा कही भी, जिस किसी रूप मे भी प्रमाद होता है, वह हिंसा है।

यहा प्रश्न उठता है कि यदि इन सबमे हिंसा और पाप है तो क्या हम युद्ध नही लडे ? शत्रु का सामना नही करे ? उदर-पोषण के लिए पानी, वनस्पति आदि की हिंसा से बचकर भूखो मर जाए ?

इन प्रश्नो को आप लोगो को अत्यन्त स्पष्टता से समझ लेना चाहिए। क्या

युद्ध मे शत्रु को मारना भी हिंसा है, पाप है? इसके उत्तर मे मैं कहूंगा—अध्यात्म के क्षेत्र मे किसी को शत्रु मानना भी हिंसा है, पाप है। अहिंसा की परिधि मे कोई शत्रु होता ही नही। वहां केवल प्रेम और मैत्री का साम्राज्य होता है। सबके लिए समान रूप से खुला हुआ, सब पर प्रेम की समान धारा बरसाता हुआ। अहिंसा मे आस्था रखने वाला यदि कोई कहता है वह मेरा शत्रु है, मेरी समझ मे उसकी अहिंसा अधूरी है। वहा अभी भी हृदय मे सबके लिए समान प्रेम का भाव नही। वहा अभी भी अपने और पराए का भेदभाव बना हुआ है। जब किसी को शत्रु मानना ही हिंसा है, तब किसी को शत्रु मानकर मारना अहिंसा कैसे हो सकती है? इसी प्रकार अपने पोषण, संरक्षण और जीवन-धारण के लिए की जाने वाली हिंसा भी अहिंसा कैसे हो सकती है?

तो क्या जैन लोग युद्ध के मैदान छोडकर भाग जाए? मैदान छोड़कर भागना कायरता है और कायरता हिंसा है। हिंसा और कायरता परस्पर एक-दूसरे के अनुगामी है। वहा अहिंसा तो हो ही नही सकती जहा कायरता है। अहिंसा वही है जहा अभय है। भय मे अहिंसा की साधना असम्भव है। जहा व्यक्ति युद्ध के मैदान छोडकर भाग रहा होता है, समाज पर आई कठिन घड़ियों के समय घरो मे छिपकर अपनी जान बचाने का प्रयास कर रहा होता है, वहा वह भले ही स्थूल रूप से हिंसा से बच रहा हो किन्तु सूक्ष्मता से और गहरे मे वह हिंसक ही है। वहा हिंसा ही होती है, अहिंसा नही। कैसे हो सकती है वहा अहिंसा जहा व्यक्ति प्राणो के व्यामोह से अपनी जान लुकाए फिरता है। वहा कायरता है, भय है, मोह है, इसलिए हिंसा है।

गीता का अर्जुन युद्धभूमि मे अपने ही लोगो को देखकर काप उठता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं
जितो वा भोक्ष्यसे महीम्'

—अर्जुन! तू किसी बिना ऊहापोह और तर्क के युद्ध कर। युद्ध मे यदि तू मारा गया तो स्वर्ग मिलेगा, क्योकि युद्ध मे शत्रु को मारना धर्म है। और यदि तू युद्ध मे जीत गया तो सुखपूर्वक पृथ्वी पर राज्य भोगेगा।

जैन तत्त्व-चिंतन इससे भिन्न है। वह कहता है—धर्म की दृष्टि से युद्ध सदा अवाछनीय है। वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के प्रति, एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के प्रति होने वाली घृणा की उपज है। जहा भी अपने स्वार्थ टकराते हैं, युद्ध के बादल उमडने-घुमडने लगते हैं। पडोसी भी उस समय दुश्मन बन जाता है। दूसरे विचार को मानने वाला, दूसरे धर्म मे आस्था रखने वाला, भिन्न जाति भिन्न रंग और भिन्न सम्प्रदाय का व्यक्ति उस समय तक शत्रु बन जाता है। भाई भी तलवार लेकर सामने खड़ा हो जाता है। महाभारत के युद्ध मे आखिर

है कौन ? कौरव और पाण्डव ही तो है ? भाई-भाई ही तो है ? फिर भाई को दुश्मन बनाकर चाहे वह अनीति पर आरूढ हो, युद्ध मे मारने से स्वर्ग मिलने की बात जैन चितन को स्वीकार नही है।

मुझे लगता है आप लोग जरा उलझन मे पड गए है। इधर मै कह रहा हू किसी भी स्थिति मे, किसी भी अनिवार्यता मे किसी को मारना हिंसा है। उधर मैं यह भी कह रहा हू कि मैदान छोडकर भाग जाना, घर मे छिपकर बैठना हिंसा है। मारना भी हिंसा है और भागना भी हिंसा है। फिर अहिसा क्या है ? कहा है ? इन दोनो के बीच मे ही है अहिसा, जहा न मारना है, न भागना है। व्यक्ति मारता इसलिए नही कि मारना हिंसा है। भागता इसलिए नही कि भागना हिसा है। जहा वह सर्वथा अभय और निर्भय है, वहा है अहिसा।

हिसा और अहिसा की इस उलझन को मैं केवल चिन्तन के स्तर पर ही नही, सैद्धान्तिक स्तर पर सुलझाना चाहता हू। आगमो मे जहा हिंसा का विश्लेषण है वहा आरम्भजा, विरोधजा और सकल्पजा हिंसा का उल्लेख है। आरम्भजा हिंसा का सम्बन्ध शरीर धारण की अनिवार्यता से है। कृषि, व्यापार तथा दैहिक अपेक्षा को पूरा करने के लिए पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि जीवो की हिंसा आरम्भजा हिंसा है। अपने प्रतिद्वन्द्वी के आक्रमण से बचने के लिए तथा सुरक्षा प्रतिशोध और आशका के आधार पर आक्रमण या प्रत्याक्रमण के रूप मे जो हिंसा निष्पन्न होती है वह विरोधजा हिंसा है। इसका तीसरा रूप है—सकल्पजा हिंसा। बिना आधार, बिना प्रयोजन, 'मुझे इसका प्राण-वियोजन करना ही है इस प्रकार सकल्पपूर्वक प्राण-वध का नाम सकल्पजा हिंसा है। सामान्यत हिंसा के जितने निमित्त है इस त्रिवेणी मे सन्निविष्ट हो गए है। सकल्पजा हिंसा किसी भी स्थिति मे वाछनीय नही है। जीवनयापन और दायित्व की दृष्टि से सामाजिक प्राणी को समाज की ओर से आरम्भजा और विरोधजा हिंसा की स्वीकृति प्राप्त है, पर इसका अर्थ यह नही कि आरम्भजा और विरोधजा हिंसा हिंसा नही है। आवश्यकता और अनिवार्यता की स्थिति हिंसा को अहिसा नही बना सकती।

यहा जैन दृष्टि स्पष्ट है। उसका मूल आधार है सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र। जो जैसा है उसे वैसा ही मानना सम्यक् ज्ञान है। उस पर श्रद्धा होना सम्यक् दर्शन है और उसका आचरण करना सम्यक् चारित्र है। ज्ञान और दर्शन के अनुसार आचार पूर्ण सम्यक् न हो सके तो कम से कम ज्ञान और दृष्टि तो सही हो। व्यक्ति को यह तो पता हो कि उसकी मजिल कौन-सी है ? उसका सही रास्ता कौन-सा है ? सही मजिल और सही मार्ग का ज्ञान होने पर जब कभी गति होगी, सही ही होगी। कोई व्यक्ति सम्यक् ज्ञान के अभाव मे जिस किसी मार्ग से चल रहा है, पर उसको सर्वथा सही मान लेना, यह मिथ्या ज्ञान होगा। जैन दर्शन का आग्रह यही है कि हम हिसा को हिसा माने, फिर चाहे

किसी भी अनिवार्यता से गुजर रहे हो । अहिंसा को अहिंसा ही माने, फिर चाहे किसी भी विवशता से गुजर रहे हो । किसी भी अनिवार्य कारण की अनुपस्थिति मे भी हिंसा हिंसा ही रहेगी, अहिंसा अहिंसा ही रहेगी । हिंसा और अहिंसा का कभी मेल नही हो सकता । अहिंसा का सही रूप वहा निखरता है जहा 'सव्वे **पाणा ण हंतव्वा'** । कोई भी प्राणी हनन करने योग्य नही है, यह सिद्धान्त व्यावहारिक रूप ले लेता है, शत्रुता का भाव समाप्त हो जाता है । आत्मौपम्य की भावना का विकास होता है और आतंककारी स्थिति का अन्त हो जाता है ।

यह अहिंसा की पराकाष्ठा है । किन्तु साधारण आदमी की पहुच इस पराकाष्ठा तक नही होती । वह या तो मारने की भाषा जानता है या भागने की । तीसरी भाषा उसकी समझ के बाहर है । इस स्थिति मे जैन दर्शन क्या मार्गदर्शन करता है, यह मैं एक घटना से स्पष्ट करू । मै समझता हू यह घटना न केवल जैन दर्शन की अहिंसा को ही स्पष्ट करेगी किन्तु अहिंसा के क्षेत्र मे श्रावक की भूमिका को भी स्पष्ट करेगी ।

एक समय की बात है, गुजरात का राजा यात्रा पर निकला । उसके राज्य की सीमाओ पर कोई सामरिक हलचल नही थी इसलिए वह निश्चिंतता से अपने मित्र देशो का आतिथ्य स्वीकार कर रहा था । दिन बीतते गए, वह अपने देश से बहुत दूर चला गया । एक पड़ोसी राजा उसकी लोकप्रियता और निराबाध राज्य-सचालन से जलने लगा । अवसर देखकर उसने चढाई कर दी । राज्य मे खलबली मच गई । राजा बाहर है, सेना सुसज्जित नही है, शत्रु सेना ने चारो ओर घेरा डाल लिया है । बाहर से सचार-व्यवस्था भग हो गई है । अब क्या करना चाहिए ? सेनापति ने सबको आश्वस्त किया । उसने दृढता से कहा—'महाराज यहा उपस्थित नही है तो क्या हुआ, हम महारानी के निर्देश मे काम करेगे और शत्रु सेना को परास्त कर विजयश्री का वरण करेंगे ।'

दूसरे ही दिन सेनापति ने पूरी तैयारी के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया । अपराह्न तक वह युद्ध के मैदान मे पहुच गया । उस समय रात को युद्ध नही होता था । हवाई हमले भी नही होते थे इसलिए युद्ध-क्षेत्र मे पहुचने पर भी दूसरे दिन सूर्योदय होने तक युद्ध स्थगित था । सूर्यास्त होने तक सब लोग अपनी-अपनी छावनियो मे पहुच गए और शत्रु का हर मोर्चा तोड़ने के लिए विशेष योजना बनाने लगे ।

सहसा सेनापति को कुछ याद आया और मत्री की स्वीकृति लेकर वह सामायिक करने बैठा । उस दिन पक्ष का अन्तिम दिन था । सेनापति जैन श्रावक था । पक्ष के अन्तिम दिन प्रतिक्रमण करना जैन श्रावक का प्रमुख कार्य है । सेनापति युद्धक्षेत्र मे भी अपने धार्मिक कार्यो के प्रति पूर्ण जागरूक था । उसने छोटे-बड़े सब जीवों का नाम लेकर उनकी हिंसा न करने का सकल्प दोहराया ।

अतीत मे हुई अज्ञात भूलो के लिए प्रायश्चित्त किया और किसी भी प्राणी को मानसिक दृष्टि से भी सक्लेश, पीडा पहुचाने की सम्भावना से अपनी पापकारी प्रवृत्तियो की निन्दा की।

मत्री ने यह सब देखा और स्तब्ध रह गया। इस सेनापति के नेतृत्व मे हम विजयी बन सकेगे ? सबके सामने एक प्रश्नचिह्न खडा हो गया। जो व्यक्ति एक चीटी को मारने मे पाप समझता है, वह आदमी को कैसे मार सकेगा ? क्या ऐसा पाप-भीरु व्यक्ति युद्ध लड सकता है ? सेना के वरिष्ठ अधिकारी चिंतित हो गए। राजा की बिना अनुमति मुख्य सेनापति को उसके पद से हटाना और वह भी केवल अनुमान के आधार पर मन्त्री को उचित नही लगा। वह सेनापति से बात करने के लिए उत्सुक हो रहा था किन्तु सेनापति तो सामायिक मे था। सामायिक पूरी होने पर वे लोग मिले और बातचीत के दौरान उनका सन्देह स्पष्ट हो गया। सेनापति ने उनके सन्देह का निराकरण कर दिया। फिर भी उनका विश्वास प्रकम्पित हो रहा था।

दूसरे दिन सूर्योदय के साथ ही युद्ध प्रारम्भ हुआ। सेनापति ने अपना कौशल दिखाया और शत्रु को पीछे खदेड दिया। कई दिनो तक युद्ध चला। स्थिति मे उतार-चढाव भी आए किन्तु अन्त मे शत्रु-सेना ने हथियार डाल दिए। सेनानायक ने आत्म-समर्पण कर दिया और राजा अपने अन्त पुर मे जाकर बैठ गया। युद्ध-विराम की घोषणा के साथ दोनो राज्यो की जनता ने शान्ति की सास ली। उधर विजयी सेनापति को सम्मान सहित नगर मे लाया गया। युद्ध-स्थल मे घटी विचित्र घटना की बात रानी तक भी पहुची। उसने सेनापति को बुलाकर उसके प्रतिक्रमण का रहस्य जानना चाहा। सेनापति के चितन और आचरण के बीच समुत्पन्न द्वन्द्व का समाधान चाहा।

सेनापति ने जैन धर्म और दर्शन का विशद विवेचन करते हुए रानी को बताया—'यह तो आप जानती ही है कि मै जैन हू। जैन दर्शन के सिद्धान्तो मे मेरी गहरी आस्था है। जैन धर्म मे साधु और श्रावक इन दो वर्गो का विभाजन है। मुनियो के लिए पाच महाव्रतो की सम्पूर्ण आराधना अनिवार्य है। अहिंसा उनका आदर्श है। वे किसी भी प्राणी को कष्ट नही देते। हमारा आदर्श भी अहिंसा है। हम भी इसकी पूर्ण आराधना करना चाहते है। किन्तु आप जानती है हम श्रावक है, गृहस्थ हैं, हमे अपने जीवन का मोह है। परिवार और देश का मोह है। इसके लिए हम परिग्रह रखते है, उसकी रक्षा भी करते है। ऐसा करना हमारा कर्तव्य है, दायित्व है। इसलिए हमारे लिए अहिंसा की एक सीमा रेखा है कि हम चलने-फिरने वाले निर्दोष प्राणियो की सकल्पपूर्वक हिंसा न करे। यद्यपि हमारा लक्ष्य यही है कि हम पूर्ण रूप से हिंसामुक्त बने, किन्तु जब तक समाज और देश के साथ हमारी प्रतिबद्धता है, हम अपने कर्तव्य से पराङ्मुख नही हो

सकते । एक निरपराध चींटी को सताकर हम प्रायश्चित्त के भागी बनते है, जबकि अपने आततायियों और आक्रान्ताओ के साथ युद्ध लडकर हम अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हैं ।

'अब आप यह जानना चाहते है कि युद्ध मे लडना अनिवार्य है वहा हिंसा की अनिवार्यता है । ऐसी स्थिति मे प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण की विडम्बना नही है क्या ? जिस समय मैं युद्ध मे लडने गया, मैं स्वय जानता था कि मुझे शत्रुओ से लडना है । महाराज जब यहां नही है तो मुझे विशेप जागरूक होकर लडना है, फिर भी मैंने प्रतिक्रमण किया । उस समय मेरे सामने एक ही चिन्तन था कि शत्रुओ के साथ-साथ निरपराध प्राणी की हत्या तो नही हो गई ।'

आरम्भजा और विरोधजा हिंसा से मैं उपरत नही हो सकता पर संकल्पजा हिंसा का अपराध तो नही हो गया । युद्ध की नीतियो का उल्लघन तो नही हो गया बस, मेरे प्रतिक्रमण का यही रहस्य था ।

अहिंसा के इस सूक्ष्म विवेचन से महारानी को नयी दृष्टि मिली । मन्त्री और सेना के वरिष्ठ अधिकारियो को भी जैन दर्शन के इस मौलिक चिन्तन ने विस्मय-विमुग्ध कर दिया ।

मैं समझता हू यह घटना अहिंसा और श्रावक की भूमिका को काफी स्पष्ट करने वाली है । अहिंसा के सूक्ष्म और वैज्ञानिक चिन्तन की गहराइयो मे जितना जैन दर्शन गया है वहा तक कोई भी दर्शन नही पहुच पाया । फिर आज विज्ञान भी पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति को सजीव मानने लगा है । आज विज्ञान भी जैन तत्त्व चिन्तन का समर्थन करने लगा है । किन्तु तत्त्व के मूल निरूपण के साथ-साथ जैन धर्म ने साधु और श्रावक की भूमिका को भी स्पष्ट किया है । उलझन तब हो जाती है जब हम उन भूमिकाओ को भुला देते हैं। मैं सोचता हू इस घटना से काफी बाते स्पष्ट हो गई होगी । अपेक्षा यही है कि इन भूमिकाओ को समझे और अपनी दृष्टि को स्पष्ट करे ।

श्रावक दृष्टि और अपरिग्रह

आज का विषय मैं एक छोटी-सी कथा से प्रारम्भ करू। एक था व्यापारी। समुद्र के रास्ते से व्यापार किया करता था। विज्ञान उस समय इतना विकसित था नही। छोटी-बडी नौकाओ द्वारा वह एक देश से दूसरे देश माल का आयात और निर्यात किया करता था। थोडे ही दिनो मे उसने लाखो रुपए कमा लिये।

एक बार उसके मित्रो ने उसे परामर्श दिया, 'आपका यह व्यापार बहुत जोखिम भरा है। पता नही कब समुद्र मे तूफान आ जाए और कब नौका किसी चट्टान से टकरा जाए। इसलिए हमारा यह आग्रह है आप थोडा समय निकालकर तैरना सीख लीजिए। ऐसे सकट के समय मे तैरना बहुत काम आता है।' व्यापारी ने कहा—'सुझाव तो बहुत सुन्दर है आपका। किन्तु पहले यह बताए तैरना सीखने मे समय कितना लगेगा?' मित्रो ने कहा, 'कम से कम सात दिन तो लग ही जाएगे।' 'सात दिन!' व्यापारी ने आश्चर्य से कहा, 'यह तो मेरे लिए बहुत ही कठिन है। आप जानते है सात दिनो मे तो मैं लाखो रुपयो का माल इधर से उधर और उधर से इधर कर देता हू। इस स्थिति मे सात दिन का समय निकालना कैसे सम्भव हो सकता है? कोई दूसरा उपाय हो तो आप बताए।'

'दूसरा उपाय तो फिर यह हो सकता है—टीन के दो खाली पीपो का मुह बन्द कर आप अपने पास रखिए। सकट के समय आप उनको पकडकर समुद्र मे उतर जाए। जब तक वे पीपे आपके हाथ मे रहेगे, आप डूबेगे नही। तब तक आपकी रक्षा के लिए कोई न कोई सहायता तो पहुच ही जाएगी।'

'यह उपाय सरल भी है और मेरे लिए सम्भव भी।' व्यापारी ने कहा। फिर उसने टीन के दो खाली पीपे मगवाए, उनका खुला मुह बन्द करवाया और जहा वह नौका मे सोता-बैठता था वही पर उन पीपो को रखवा दिया। एक बार वह दूसरे देश मे माल लादकर आ रहा था, समुद्र मे अचानक भयकर तूफान आ गया। लहरो के थपेडो से नाव डगमगा गई। मल्लाहो ने चिल्लाकर

कहा, 'नाव खतरे मे फंस गई है। सब अपनी-अपनी रक्षा का प्रबन्ध कर लें। जो भी तैरना जानते थे उन्होने समुद्र मे छलांग लगा दो। अब उस व्यापारी को अपने मित्रो की राय याद आई। मन मे सोचा, आज यदि तैरना सीखा हुआ होता तो मैं भी छलाग लगाकर अपनी जान बचा लेता।

तभी उसे खाली पीपो की याद आयी। उसने पीपो को उठाने के लिए हाथ बढाया। उन पीपो के आस-पास टीन के कुछ और भी पीपे थे जिनमे सोना भरा था। व्यापारी ने सोचा, मित्रो ने पीपे पकड़कर उतरने की सलाह दी थी। अब मैं इन खाली पीपो को पकडकर नीचे उतरू या इन दो भरे पीपो को पकडकर, क्या फर्क पडता है? सारा सोना यो ही डूबने वाला है। कम-से-कम दो पीपे सोना तो बच जाए। उसने सोने के बिस्कुटो से भरे दो पीपे उठाये और समुद्र की उफनती हुई लहरो मे उतर गया। नीचे उतरा कि सीधा गहराई मे ही डूबता चला गया। खाली टीन के पीपे लेकर उतरता तो शायद वह न भी डूबता, किन्तु उन पीपो के कारण तो उसे डूबना ही पडा।

जैसे वह व्यापारी अन्तिम समय मे सोने का मोह नही छोड सका, मुझे लगता है जैन समाज की भी परिग्रह और सग्रह के प्रति वैसी ही व्यामोह भरी दृष्टि पैदा हो गयी है। भगवान् महावीर ने अहिंसा की तरह अपरिग्रह पर भी कम बल नही दिया था। किन्तु आज जैन समाज की परिग्रह और सग्रह के प्रति जो दृष्टि है उसे देखते हुए अपरिग्रह का पुनर्मूल्याकन जरूरी है। देश के प्रबुद्ध वर्ग का यह आरोप भी है कि भगवान् महावीर ने असंग्रह पर जितना बल दिया था आज जैन समाज का सग्रह के प्रति उतना ही अधिक आकर्षण और झुकाव है। इस स्थिति मे यह जरूरी है कि भगवान् महावीर के अपरिग्रह के प्रति यह दृष्टिकोण को समझा जाये और श्रावक-जीवन मे उस दृष्टि का विकास किया जाए।

भगवान् महावीर ने परिग्रह के प्रति विवेक देते हुए कहा—वस्तु के प्रति होने वाला ममत्व परिग्रह है। परिग्रह वस्तु मे नही, मन मे होता है, वृत्तियों मे होता है। एक व्यक्ति के पास धन कम है, किन्तु वह प्राप्त और अप्राप्त अर्थ के प्रति आसक्त है तो परिग्रह मे बधा हुआ है। एक व्यक्ति के पास धन-सम्पत्ति विपुल है, किन्तु उसमे मूर्च्छा नही है, ममत्व नही है, आसक्ति नही है तो वह परिग्रह मे बंधा हुआ नही है।

एक राजा और संन्यासी नदी मे स्नान करने गये। सन्यासी अपनी एकमात्र लंगोटी और कमण्डलु को तट पर रखकर पानी मे चला गया। उस तट पर ही राजा का महल था। सहसा नदी के किनारे आग लग गयी। राजा शान्त भाव से स्नान कर रहा था किन्तु सन्यासी तट पर पहुचने की जल्दी मचाने लगा। उधर आग बढ़ रही थी। राजप्रासाद आग की लपटो मे घिर गया। राजा ने

मन पर इसका कोई असर नही हुआ। सन्यासी रुआसा होकर बोला—'मेरी लगोटी और कमण्डलु जलकर राख हो गये है, अब तुम राजभवन की तो सुरक्षा करो।' राजा ने अनासक्त भाव से कहा—'इस ससार मे मेरा जो कुछ भी है वह मेरे पास है। यह राजप्रासाद मेरा कैसे हो सकता है? इसे भोगने की सुविधा मुझे प्राप्त है। इसका मतलब यह तो नही कि यह मेरा है। ससार की किसी भी वस्तु पर हमारा स्वामित्व नही है।'

अपरिग्रह मे परिग्रह और परिग्रह मे अपरिग्रह, यह मन स्थिति भगवान् महावीर के चिंतन को स्पष्ट अभिव्यक्ति देती है। उन्होने कहा—'मुच्छा परिग्गहो।'। मूर्च्छा—ममत्व परिग्रह है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि वस्तु-सयम, पदार्थ-सीमाकरण हो ही नही। धन-सपत्ति का सीमाकरण अपरिग्रह की ओर गति है। जहा वस्तु हो या न हो, धन-सपत्ति हो या न हो, चित्त मे कोई फर्क नही पडता। सपत्ति प्रसन्नता पैदा नही करती और अर्थाभाव से सक्लेश की स्थिति नही बनती। वह अपरिग्रह और ममत्व-विसर्जन की स्थिति है। साधारण आदमी इस स्थिति को प्राप्त नही कर सकता, इसलिए अपरिग्रह की दिशा मे सपत्ति के सीमाकरण का सिद्धान्त बहुत मूल्यवान है।

जैन श्रमणो के लिए अपरिग्रह आदर्श है। ममत्व-विसर्जन की साधना के लिए उनको विधान दिया गया—सयमयात्रा के लिए अनिवार्य उपकरण सामग्री से अधिक उपकरण काम मे न लाये। इस सदर्भ मे जैन-श्रावक के लिए विधान दिया गया—वह गलत तरीको से धन का उपार्जन न करे, सही तरीके से अर्जित सपत्ति के उपभोग की सीमा करे। अपनी वार्षिक आय की सीमा का निर्धारण करे। प्राप्त सपत्ति के स्वामित्व का विसर्जन करे। ममत्व वही है जहा अधिकार की भावना है। स्वेच्छा से जहा भी अधिकार समाप्त होता है, ममत्व समाप्त हो जाता है।

श्रावक के लिए व्यापार अपने और कुटुम्ब-पालन का साधन तो होता ही है, राष्ट्र की आर्थिक शक्ति को सतुलित रखने और विस्तार देने का साधन भी होता है। इन दोनो दृष्टियों को सामने रखते हुए श्रावक के लिए व्यापार नही करने का विधान जैन-शास्त्रो ने नही दिया। उन्होने यही कहा कि श्रावक गलत उपायो से, अमानवीय तरीको से धनार्जन नही करे। सही तरीके से अर्जित धन का उपयोग कैसे करे? इसके उत्तर मे कहा गया है कि वह व्यक्तिगत उपभोग-परिभोग की सीमा करे।

राजा प्रदेशी जब मुनि केशीकुमार से श्रावक धर्म स्वीकार करता है, अपने भोगोपभोग की सीमा करता हुआ वह पूरे राज्य को चार भागो मे बाट देता है। वह कहता है—सेयविका आदि राज्य के समस्त नगरो और गावो की आय को मैं चार भागो मे बाटता हू। एक भाग सेना-वाहन के लिए, एक भाग कोष्ठागार

के लिए, एक भाग अंत.पुर के लिए और एक भाग राज्य मे बडी-बडी कूटागार शालाएं बनाने के लिए, जिनको आज की भाषा मे विश्राम भवन कहा जा सकता है। श्रमण माहणो के लिए ठहरने की व्यवस्था रहती, भूखो को भोजन दिया जाता, श्रमणोपासको के लिए औषधशालाओ की व्यवस्था रहती और राहगीरो के विश्राम की व्यवस्था रहती। इस प्रकार अपनी सपत्ति को चार भागो मे बाटकर स्वयं उसके स्वामित्व से, मालकियत से मुक्त हो गया।

यह छोटा-सा उदाहरण श्रावक की परिग्रह और सग्रह के प्रति होने वाली दृष्टि को काफी रूप से स्पष्ट कर देता है। श्रावक का जीवन नैतिक और प्रामाणिक हो, इस दृष्टि से मैंने अणुव्रत को नये परिवेश मे रखा। उपार्जित धनराशि के प्रति श्रावक का विवेक जागृत हो इसलिए विसर्जन का सूत्र दिया। इसके पीछे यही उद्देश्य था कि श्रावक स्वामित्व से जितना अधिक मुक्त होगा, उतना ही अपरिग्रह की दिशा मे विकास कर सकेगा। अपरिग्रह की दिशा मे विकास करने के लिए स्वामित्व-विसर्जन और अधिकार-विसर्जन अत्यन्त आवश्यक है।

हमारी तेरापंथ परम्परा मे स्वामित्व-विसर्जन के साथ-साथ एक उलझन भरा प्रश्न और खडा होता है। वह है स्वामित्व-विसर्जन के साथ होने वाली सपत्ति की व्यवस्था का। राजा प्रदेशी ने अपने राज्य की आय को चार भागो मे बाटकर व्यवस्था की। इस प्रकार की व्यवस्था करना क्या धर्म है—यह प्रश्न केवल तेरापथ परम्परा का है। दूसरी किसी भी परम्परा मे ऐसे प्रश्न का अवकाश नही है। क्योकि उन्होने इसे धर्म मान लिया। तेरापथ के आदि-प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का इसके प्रति भिन्न दृष्टिकोण था। उनका कहना था, 'उपभोग-परिभोग की सीमा करना धर्म है। अपने स्वामित्व को हटाना धर्म है। किन्तु संपत्ति की व्यवस्था करने से धर्म का कोई सबध नही है। वह तो एक उसका कर्तव्य है ताकि संपत्ति गलत हाथो मे न चली जाये, उसका कोई दुरुपयोग न कर ले। इसलिए होती है यह व्यवस्था। स्वामित्व-विसर्जन के साथ उसका कोई लेना-देना नही है।'

यह आचार्य भिक्षु की बडी मौलिक दृष्टि थी। उन्होने कहा, 'जब स्वामित्व-विसर्जन ही करना है, तो काहे की यह चिन्ता कि कौन इस सपत्ति का उपयोग करता है। जब अपना ममत्व हट गया वस्तु से तो काहे की चिन्ता कि इस वस्तु को कोई चोर ले जायेगा या साहूकार। कोई भी ले जाये उस वस्तु को, विसर्जन करने वाले को इसकी चिन्ता नही होनी चाहिए। अब भी चिन्ता करता है वह उस वस्तु के बारे मे, इसका अर्थ यह है कि अभी भी उस वस्तु के साथ उसका लगाव और आकर्षण है। अभी भी वह उस वस्तु के साथ बधा हुआ है।'

बडी गहरी थी वह दृष्टि कि जब मन हट गया परिग्रह से, मकान से, गांव

चादी से, पत्नी-पुत्र से, धन-सपत्ति से, तव इनका पीछे क्या होगा—यह चिन्ता व्यर्थ है। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि व्यवस्था करने से कोई स्वामित्व-विसर्जन कर ही नही सकता। राजा प्रदेशी ने राज्य की आय की व्यवस्था की और फिर सदा के लिए उसके स्वामित्व से अलग हो गया। ऐसा नही करता तो वह कर्तव्य से च्युत होता। केवल उसके अपने व्यक्ति का ही प्रश्न नही होता, पूरे राज्य का ही उस पर दायित्व था। उसके लिए व्यवस्था करना जरूरी था इसलिए उसने राज्य की पूरी व्यवस्था की और स्वयं उससे अलग हो गया।

स्वामीजी की दृष्टि बहुत गहरी थी इस व्यवस्था और विसर्जन को अलग-अलग करने के पीछे, किन्तु श्रावक समाज पूरी तरह समझ नही पाया। उसने यही समझा, अतिथि भवन बनाना पाप है, किसी भूखे को देना पाप है, धन-सपत्ति की व्यवस्था करना, उन्हे दूसरो को सौपना पाप है। परिणाम यह हुआ कि अर्जन हर उचित-अनुचित उपायो से होता रहा, सग्रह पर सग्रह होता गया, कोई सीमा नही रही सग्रह पर किन्तु जब विसर्जन का सवाल आया तब पाप बीच मे आ गया, स्वामीजी की दृष्टि बीच मे आ गयी। कहा थी स्वामीजी की दृष्टि कि आप नही करे व्यवस्था, नही करे विसर्जन ? उनका आशय तो केवल इतना ही था कि जब अन्तिम छलाग लगाना हो तो मत झाको इधर-उधर। केवल लक्ष्य पर रखो अपनी नजर। इतनी तैयारी न हो तो जितना कर सको, करो, किन्तु वहा पर भी हमारी दृष्टि स्पष्ट रहे। जो व्यवस्था है उसे व्यवस्था समझे, जो विसर्जन है उसके आध्यात्मिक मूल्य को पहचाने। दोनो का मिश्रण नही करे। आचार्य भिक्षु की दृष्टि के पीछे यही रहस्य था।

किन्तु विसर्जन करना, ममत्व को हटाना बहुत मुश्किल होता है। इसीलिए समाज के लोगो को वहाना मिला कि आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था मे धर्म नही वताया है। उन लोगो ने कभी यह नही सोचा कि आचार्य भिक्षु ने तो सग्रह करने मे भी महापाप बताया है। फिर हम सग्रह क्यो करते है ? गलत तरीके से किये जाने वाले धनार्जन को आचार्य भिक्षु ने महान् अनर्थ का कारण बताया है। फिर वे लोग व्यापार मे उचित-अनुचित साधनो का विवेक क्यो नही रखते है ? वस्तुत. यह कोई कारण है ही नही। कारण केवल इतना ही है कि धन-परिग्रह के प्रति ममत्व छूटना बहुत कठिन है। वस्तुओ पर होने वाला स्वामित्व छूटना कठिन है। उससे वचने के लिए धर्म और अधर्म की आड ली जाती है।

अर्थ-विसर्जन के प्रश्न पर धर्म-अधर्म की चर्चा का महत्त्व तब होता जब व्यक्ति अपने और अपने परिवार के लिए होने वाले व्यय को उसके साथ रखता। अपनी सुख-सुविधा और विलासिता के लिए, अपने परिवार की प्रतिष्ठा के लिए विवाह आदि प्रसगो पर अर्थ का जो अपव्यय होता है, उसमे पाप मानकर व्यय का सवरण करता। क्या अर्थ के सदुपयोग पर रोक लगाने वाला धर्म उसके

अपव्यय को मौन भाव से सहन कर लेगा ? किन्तु यह व्यक्ति की कितनी बड़ी दक्षता है कि जहा अपने स्वार्थ का हनन होता है वहा वह उससे बचाव का साधन खोज लेता है अन्यथा मध्यस्थ रहता है। इस स्वार्थ-चेतना से ऊपर उठे बिना अपरिग्रह की बात समझ मे नही आ सकेगी।

सक्षेप मे फिर समझ लें आप अपरिग्रह के प्रति रही भगवान् महावीर की दृष्टि को। हमारे मे ममत्व-विसर्जन का विकास हो। उसके लिए वस्तुओं का सीमाकरण हो। परिग्रह की मर्यादा हो। शेष बची धन-संपत्ति की व्यवस्था जैन श्रावक इस प्रकार करता है जिससे उस संपत्ति का दुरुपयोग भी न हो, उनमे मालकियत का अहं भी न रहे और सग्रह के प्रति होने वाली तीव्र लालसा पर अंकुश भी हो।

महात्मा गांधी ने मिल-मालिको, व्यापारियो और धनवानो को ट्रस्टीशिप का सुझाव दिया था—एक निश्चित धन-राशि का उपयोग अपने और अपने परिवार वालो के लिए हो और शेष संपत्ति का उपयोग समाज के हितो मे हो। यह वही प्रयोग था जिसके लिए भगवान् महावीर ने अपने श्रावको को निर्देश दिया था। हमने गलती यह की कि उस धन-राशि की व्यवस्था करना भी धर्म नही है, यह कहकर संग्रह-पर-संग्रह करते गये। किन्तु धन-सपत्ति के उपभोग-परिभोग की सीमा के लाभो पर ध्यान नही दिया।

यह तो स्पष्ट ही है कि जिस व्यक्ति के अपने भोग की एक निश्चित सीमा है वह गलत और भ्रष्ट उपायों से अधिक संग्रह की चेष्टा ही नही करेगा। अधिक संग्रह की तीव्र लालसा पर उसके अंकुश लग जायेगा। अर्थार्जन के क्रूर और अशुद्ध साधनों पर स्वयं रोक लग जायेगी। उपभोग की सीमा से अधिक सम्पत्ति पर उसका कोई ममत्व या आसक्ति भी नही रह जायेगी। अधिक धन-संग्रह से बढने वाली विलासिता से स्वयं बचाव होगा। इसके साथ ही साथ उस सम्पत्ति का उपयोग समाज के हितों मे सहज ही हो जायेगा।

मुझे एक छोटी-सी घटना याद आ रही है। उसी के साथ मैं अपने वक्तव्य को सम्पन्न करूंगा। एक लकड़हारा था। जंगल से लकड़ियां काटकर लाता, शहर में वेचता और अपना तथा अपने परिवार का पालन करता। एक बार राज्य का राजा जंगल मे शिकार के लिए गया। एक हिरण के पीछे दौड़ता-दौड़ता वह रास्ता भूलकर भटक गया। संयोगवश वह लकड़हारा भी लकड़ी काटने के लिए उस दिन जंगल के उसी हिस्से में आया हुआ था। राजा ने उस लकड़हारे को देखा। प्यास के मारे उसके होंठ इतने सूख गये थे कि वह कुछ भी बोल न सका। पानी के लिए उसने अपने होठो पर हाथ रख दिया। लकड़हारे ने इशारा समझकर उसे पानी पिलाया। तब कही जाकर राजा कुछ बोल सका।

राजा ने अपना परिचय देते हुए लकड़हारे का कुशल संवाद पूछा। उसने

गरीबी के प्रति अपनी सवेदना प्रकट की। लकडहारे ने अपनी आय पर पूर्ण सतोष व्यक्त करते हुए कहा—'राजन्! मै प्रतिदिन छह टके कमाता हू लकडिया बेचकर। एक टका मैं मां-बाप को देता हू। एक टका पुत्र की शिक्षा पर खर्च करता हू। एक टका अपनी पत्नी को देता हू। एक टके से अपना पेट पालता हू। एक टका खजाने मे डालता हू और एक टका घर पर आये अतिथि अथवा भिखारी को देता हू। इस तरह मैं तो राजा भोज हू। किसी प्रकार की कोई कमी नही। किसी प्रकार की कोई चिन्ता नही। दिन में पसीने की कमाई करता हूं। रात मे सुख की नीद सोता हू।' राजा उसकी बातें सुनकर आश्चर्य-चकित रह गया।

मै समझता हू ऐसा चाहिए श्रावक का जीवन—सात्त्विकता एव सतोष से परिपूर्ण। जहा तक बन सके, श्रावक व्यापार मे गलत साधनो का सहारा न ले, सात्त्विक एव सादगीपूर्ण जीवन जीने के लिए उपभोग-परिभोग की सीमा करे। उस सीमाकरण के फलस्वरूप उस सामग्री का लाभ समाज को अनायास ही मिल जायेगा, यही होनी चाहिए अपरिग्रह के प्रति श्रावक की दृष्टि जिस पर आप सबको विचार करना है।

शरीर को छोड़ दें। धर्म-शासन को नहीं

एक संस्कृत कवि ने राजहस को सबोधित कर लिखा है—

भुक्ता मृणाल-पटली भवता निपीता
न्यम्बूनि यत्र जलजानि निषेवितानि
रे राजहस ! वद तस्य सरोवरस्य
कृत्येन केन भवितासि कृतोपकार:।

—राजहस ! जिस सरोवर मे तुमने पेट भर कमलनाल को खाया, जी भरकर जिसका ठडा और मीठा जल पीया, खिलते हुए कमल फूलो का सेवन किया, उस सरोवर के ऋण से तुम कैसे मुक्त हो सकोगे ? किस प्रकार का कार्य करके तुम उस सरोवर के उपकार का ऋण चुका सकोगे ?

एक और कवि की उक्ति मुझे एक प्रसग की याद दिला रही है। सामने एक बूढा पेड है, जिस पर फूल नही, फल नही, पत्ते नही, कोपल नही—बिलकुल श्रीविहीन। सूखकर एकदम ठूठ रह गया हो जो। उस पर बैठा है एक सुन्दर पक्षी। कवि उस पक्षी को कहता है—'ओ भोले पछी ! क्यो बैठे हो अब तुम इस पेड पर ? किस आशा मे बैठे हो ? उडकर चले जाओ—फलो, फूलो और पत्तो से लदे हुए किसी हरे-भरे वृक्ष पर। अब यह वृक्ष बूढा हो गया है। मृत्यु के किनारे खडा है। पता नही हवा के किस झोके के साथ ही यह धराशायी हो जाए। इसलिए उडकर चले जाओ किसी सुरक्षित वृक्ष पर। यहा पर ठहरकर व्यर्थ ही मृत्यु को क्यो निमंत्रण दे रहे हो ?'

पक्षी सुनता है मनुष्य का स्वार्थ-भरा सुझाव और मन-ही-मन हस देता है। फिर धीमे से बोलता है—'बिलकुल ठीक सोच रहे हो तुम, मनुष्य के चिन्तन का यही क्रम है। यदि मैं भी कही मनुष्य होता तो यही सोचता, मेरा भी चिन्तन इतना ही स्वार्थपूर्ण होता। लेकिन तुम देखते हो—मैं कोई मनुष्य नही हू। मनुष्य नही हू तो प्रबुद्ध नही हू। एक भोला मूर्ख पछी हू तुम्हारी नजर मे। इसलिए उड़कर नही जाऊगा कही भी सूखे पेड़ पर से। मैं जानता हू कि इस वृक्ष मे न मुझे

खाने को फल मिलने वाले है, न फूल मिलने वाले है और न ही पत्तो की छाया मिलने वाली है। कुछ भी नही मिलने वाला है मुझे इस वृक्ष से—मेरी सुख-सुविधा के लिए, मेरे जीवन-धारण के लिए। फिर भी इसे छोडकर मैं अन्यत्र नही जा सकता, क्योकि मैं जानता हू कि इसकी टहनियो पर बने एक छोटे से घोसले मे ही मैं पैदा हुआ, गर्मी मे इसने शीतल छाह दी, शीत और वर्षा मे आश्रय दिया तथा तूफानो मे मेरी रक्षा की। मैंने हर बार इसे कष्ट दिया, इसने हर बार मुझे प्यार दिया। यदि यह नही होता तो पता नही मेरा क्या होता, मैं कहा होता और मेरे पर क्या मुसीबतें गुजर रही होती।

इस स्थिति मे इसकी विपन्नावस्था मे, इस जर्जर अवस्था मे इसकी मृत्यु को ममीप जानकर मैं इसे छोडकर चला जाऊ। मैं किसी दूसरे हरे-भरे वृक्ष पर चला जाऊ तो इस धरती पर मेरे से बढकर कृतघ्न दूसरा कौन होगा? कौन होगा पापी अधम मेरे से बढकर? मैं ऐसा नही कर सकता। आज तक मै यही जिया हू। मरना होगा तो यही मरूगा। मरने के डर से मै अपने पालक, प्राणदाता और जीवनदाता वृक्ष को छोडकर कही नही जाऊगा।

उस भोले-भाले पछी का मर्मभेदी उत्तर सुनकर कवि अवाक् रह गया। एक अज्ञानी दीखने वाले पक्षी से महान् सत्य का उद्घाटन सुनकर वह आश्चर्यचकित रह गया। उसके कोमल मन मे अपने आश्रयदाता के प्रति कितना गहरा अनुराग, कितनी गहरी निष्ठा और कितना गहरा आत्मीय भाव था। एक क्षण के लिए भी नही टूटने वाला उसका वह तादात्म्य भाव, सुख-दु ख मे सहानुभूति और साथ ही साथ जीने-मरने का मनोभाव—क्या एक बुद्धिशील मनुष्य अपने उपकारी के प्रति इतना कृतज्ञ रह सकता है?

कवि की स्वार्थ-चेतना को एक झटका-सा लगा। उसका अतर्मन कराह उठा। वह सोचने लगा—हम मनुष्य है, परमार्थ का दम्भ भरते है, पर जीते हैं औपचारिक ससार मे। औपचारिकता के राजपथ पर हम इकट्ठे होते है, हसते हैं, गाते हैं और खुशिया मनाते है। किन्तु अन्दर-ही-अन्दर विघटित होते जा रहे है। जिस देश, समाज और परिवार मे हमने जीवन पाया, हमे बराबर मिलती रही है जिसकी सुखद छाया, उस देश या समाज-परिवार से हमारा कितना लगाव है? क्या हम उसके सुख-दु ख मे साथी है? क्या उसकी खुशिया हमे सुख देती है? क्या उसकी पीडा का हमारे मन पर कोई प्रभाव होता है? कवि सोचता-सोचता इतना आत्म-विभोर हो गया कि वह वहा खडा नही रह सका। वह उछलकर उस बूढे वृक्ष पर चढा जहा वह नन्हा-सा मासूम पछी बैठा हस रहा था। कवि ने उसे अत्यन्त स्नेह से गले लगाया। अपने अनुचित सुझाव के लिए क्षमा मागी। पक्षी के सामीप्य मात्र से कवि कृतज्ञता से भर गया। अब उसके शब्दो से चिन्तन

और व्यवहारो से कृतज्ञता का प्रवहमान स्रोत बहने लगा। कवि को बड़ा ही सुख मिला उस स्थिति से।

युवक बंधुओ ! यह एक भोले पंछी और विज्ञ कवि की छोटी-सी कहानी है। आपको इसमे अतिरजन का दर्शन होता होगा। हो सकता है हम अपनी सुविधाओ के लिए ऐसे सदर्भो को अर्थवाद की तरफ ले जाते हैं किन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है, यह कहानी भले ही कवि की कल्पना हो, पर हमे यथार्थवादी दृष्टिकोण देती है, हमारी सकल्प-शक्ति को दृढ़ बनाती है और विचलित मन.स्थिति को देती है सशक्त आलम्बन।

उस पछी की छोटी-सी देह को वृक्ष का आधार मिला और वह उसके प्रति सर्वात्मना समर्पित हो गया। हमे अपने धर्म-शासन से क्या नही मिला ? अध्यात्म-चेतना का जागरण हमारे जीवन की सबसे बडी तडप है, आकाक्षा है, चाह है। इस चाह को राह देने वाले हमारे धर्म-शासन ने हमारा कितना उपकार किया है।

बंधुओ ! मैंने आपके सामने जिन दो सन्दर्भों का उल्लेख किया है, वडे रोमांचक है। अपने आधार को विपन्नावस्था मे देखकर, अतिम स्थिति मे पाकर तथा उससे स्वय की विपन्नता का अनुमान लगाकर भी वह भोला पछी कही नही गया। फिर इस समय हमारा सघ तो कितना सम्पन्न है। दिन-प्रतिदिन इसकी सम्पदा बढती जा रही है, प्रगति के आयाम खुल रहे हैं। हमारा यह उदीयमान धर्म-शासन, जिसे मैं हरे-भरे उपवन के रूप मे देखता हूं, आज कितना लहलहा रहा है? इसकी शीतल छाया, इसके मधुर फल, इसकी मोहक सौरभ और इसकी आकर्षक चहल-पहल सुदूर राष्ट्रो को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। इसके सघन निकुज हर क्षण मानव और मानवता को त्राण दे रहे है। किसी भी स्थिति मे हम इसके मुरझाने या सूखने की कल्पना भी नही कर सकते। क्या हम इस हरे-भरे, फले-फूले एकमात्र आधारभूत धर्म-शासन से एक क्षण भी अपने दूर होने की बात सोच सकते है? क्या हम युग के तूफानो मे, आधी-पानी के दिनो मे अपने शासन की सरहदो को छोड़कर कही जा सकते है? क्या हम अपने छोटे से जीवन मे इस नाशवान शरीर से धर्म-शासन के ऋण से उऋण हो सकते है ? हा, हो सकते है। पर तभी जब हम व्यक्तिगत स्वार्थो से मुक्त होकर धर्म-शासन की प्रभावना करेगे। स्नायु मे शोणित की तरह हमारी नस-नस मे शासन के प्रति गहरे अनुराग के भाव होगे। हर सकट की घडी मे हम इसके लिए प्राणो की बाजी पर खेलेगे।

सकट की घड़िया ही वास्तव मे कसौटी की घड़िया होती है। एक समय की बात है, जगल मे दावानल लग गया। हरा-भरा खुशहाल जगल देखते-देखते आग मे झुलसने लगा। आग चन्दन के वृक्षो तक पहुच गई। एक-एक वृक्ष धराशायी

होने लगा। शेष बचे हुए वृक्षो मे से एक पर एक हस बैठा था। आग की लपटे और झुलसते जगल को देखकर वह न घबराया, न खिन्न हुआ और न वहा से उडने के लिए उद्यत हुआ। उसकी अकर्मण्यता देखकर उसकी नन्ही-सी जान पर द्रवित होकर वृक्ष बोला—

आग लगी वनखण्ड में, दाज्झ्या चदन-वंश,
म्हे तो दाज्झ्या पंख बिन तू क्यू दाझै हंस ?

—वनखण्ड मे आग लग गई। चदन वृक्ष झुलस गए। हम झुलसते है क्योकि लाचार है। हमारे पास उडने को पख नही है। भोले हस! तेरे पास पख है। तू तो प्रतिदिन उड़ता है। फिर आज तुझे क्या हो गया है? तू हमारे साथ क्यो झुलस रहा है?

वृक्ष का ममता भरा, करुणा-सिक्त प्रश्न सुनकर हसता हुआ हस बोला—

पान मरोड्या फल भख्या बैठ्या एकण डाल,
तू दाझै मै उड़ चलू जीणो किते एक काल ?

—ओ मेरे जीवनदाता! तुम क्या कह रहे हो! मैं सदा तुम्हारे कोमल पत्तो के साथ खेलता रहा, फल खाता रहा और एकमात्र इसी आश्रय पर रहता रहा। आज जब तुम सकट मे हो, आग की लपटो मे घिर रहे हो, मै तुम्हे छोडकर उड जाऊ! कहा जाऊ? आखिर मुझे कितने समय तक जीना है। यह शरीर नाशवान है। आज नही तो कल इसे छोडना ही है। पर इसके लिए मै तुम्हे नही छोड सकता। मेरे जीवन की दु खद घडियो मे सशक्त आलम्बन देने वाला, सम्भालने वाला यही तो है। मानसिक व्यथाओ तथा पारिवारिक सक्लेशो की स्थिति मे हमे समुचित मार्गदर्शन देने वाला यही तो है। हमारा धर्म-सघ हमे अधकार से प्रकाश मे ले जाता है। अज्ञान से ज्ञान मे ले जाता है और इस मरण-धर्मा शरीर मे रहने वाली आत्मा को अमरता की ओर ले जाता है। रूढिवादी परम्पराओ मे पलनेवाले हमारे समाज को अधविश्वासो और रूढियो से मुक्त कर प्रगतिशील विचार देने वाला हमारा धर्म-शासन शाश्वत और सामयिक सत्यो का बोध देकर जीवन की सही दशा देने वाला, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो का बोध देने वाला, हर स्थिति मे शान्ति और सहिष्णुता का महान् आदर्श दिखाने वाला शासन—क्या हम किसी भी क्षण इसे भूल सकते है? क्या हम इसके उपकारो का बदला चुका सकते है?

हम शरीर को छोड दे, धर्म-शासन को नही। इस सूक्त की सार्थकता इन अनजान-अनबूझ पछियो के ही जीवन मे है, यह बात नही है। हमारे शासन का इतिहास, हमारे सघ की परम्पराए आज भी मुखर है अपने वीर वशजो का गौरव गाने और उनको स्मृतियो के चित्रपट पर दिखाने के लिए जो धर्म-शासन के लिए देश और शरीर छोड़ने को तत्पर रहे।

आचार्यश्री भारीमालजी उदयपुर मे प्रवास कर रहे थे। कुछ विरोधी व्यक्तियों ने तत्कालीन राणा श्री भीमसिह जी को भ्रम मे डाल दिया। उन्होंने आचार्यश्री को उदयपुर से निर्वासित कर दिया। उदयपुर को छोड़कर वे राजसमद पहुचे। तब तक विरोधी लोग उन्हे मेवाड से निर्वासित कराने की योजना बनाने लगे। केवल योजना ही नही, उस सम्बन्ध मे अनेक अफवाहे चारो ओर फैला दी गई। उस समय उदयपुर के श्रावक श्री केशरजी भण्डारी जो अब तक प्रच्छन्न तेरापथी थे, प्रकाश मे आए। राणा के साथ उनके आत्मीय सम्बन्ध थे। वहां पहुचकर वे बोले—'लोगो के कहने से आपकी बुद्धि विपरीत क्यो हो गयी है ? आप सतो को कष्ट दे रहे है, उसका दुष्परिणाम सबको भोगना पडेगा।' राणाजी के मन मे जैसा जचाया गया, उन्होने कहा—वे सत वर्षा को बाधते हैं। ऐसा करते है, वैसा करते है। उन्होने कहा—आप बहकावे मे है। वे तो मेरे गुरु हैं। राणा स्तब्ध रह गए। उन्होने तत्काल पत्र लिखा, जिसमे अपने अनुचित व्यवहार के लिए क्षमा मागी और पुन. उदयपुर पधारने के लिए आग्रह-अनुनय भरा निवेदन किया। हरकारा पत्र लेकर राजसमंद पहुंचा। श्रावक इस सूचना से कि हरकारा आ रहा है, बौखला उठे। मेवाड के सभ्रान्त श्रावक राजसमद मे उपस्थित थे। उन्होने दृढता से कहा—इस बार क्या आदेश आएगा—मेवाड छोडने का ही तो। कसो कमरे, हमारे गुरु यहा नही रहेगे तो हमे रहकर क्या करना है। हम सब इनके साथ ही निर्वासित होगे। हरकारे के पहुंचने पर उन्होंने कहा—पढ़ना क्या है। फाड डालो पत्र को और तैयार हो जाओ। बुजुर्ग व्यक्तियो के सुझाव से पत्र पढ़ा गया तो रग ही बदल गया। राणाजी का पश्चात्ताप और आग्रह भरा पत्र आचार्यश्री भारीमालजी को निवेदित किया गया। उनके मन मे राणा के प्रति कोई रोष नही था और न अनुनय से गौरव का भाव जगा। उन्होने संतो को उदयपुर भेजा और अपने लिए कहा—अब कौन पत्थर कुचलने वहा जाए। इस घटना मे मेवाड़ी वीरो का धार्मिक शौर्य उफन-उफनकर बह रहा है, जो हमारी वर्तमान युवा पीढी को धर्म-शासन के लिए कुछ करने की प्रेरणा देता है।

एक ही क्या, ऐसी अनेक घटनाए है जिनसे धर्म-शासन का गौरव उद्गीत हो रहा है। जयाचार्य के समय मुनि मुनिपतजी की दीक्षा का प्रसग और वह विरोधियो का षड्यंत्र। आखिर जयाचार्य के नाम वारट जारी करवाया। उस समय जोधपुर के भण्डारी श्री बादरमलजी और लाडनू के श्री दूलजी दूगड ने जिस साहस का परिचय दिया, जो कौशल दिखाया वह उल्लेखनीय है—अपने जीते-जी शासन पर आंच नही आने देंगे। आचार्यो पर एक फूल की छडी भी नहीं आने देंगे—इस शरीर के रहते हुए। हमारा तन, मन, सर्वस्व शासन पर निछावर है। शासन है तो हम है। शासन हमारे लिए सर्वोपरि है। इस शासन

की सुखद हवा मे हम सास ले रहे है। शासन की जरूरत पर पहला बलिदान हमारा हो। यह उदात्त और उदार-चिन्तन, धर्म-शासन के लिए मर-मिटने का मनोभाव भी कितना हृदयग्राही है! कितना प्रेरक है।

मनुष्य का आयुष्य बहुत छोटा है। शरीर नाशवान है, आत्मा अमर है। फिर कौन-सा मोह उसके प्राणोत्सर्ग मे बाधक बनेगा? कौन-सा व्यामोह इस नश्वर शरीर को रोककर रखेगा? हम सब इस अवसर की प्रतीक्षा मे है जब हमे धर्म-शासन के लिए कुछ करना होगा। शासन की नीव के पत्थर नही बन सके तो क्या हुआ? शासन के प्रासाद पर कलश तो चढाएगे। ध्वजा तो फहराएगे।

यूरोप के धर्म-सुधारक मार्टिन लूथर का नाम आप लोगो ने सुना होगा। तरुणो! धर्म के नाम पर प्रचलित अधविश्वासो और अर्थहीन रूढ परम्पराओ के विरुद्ध वे तीव्र क्रान्ति करना चाहते थे। उनकी क्रान्ति ने जनमत को जागृत कर दिया। जनता मे अपना प्रभाव कम होते देख पोप पादरियो को बडी चिन्ता हुई। उनकी प्रतिष्ठा का प्रश्न था वह। पोप ने एक पत्र मार्टिन लूथर को भेजा— अपना यह प्रचार-कार्य और प्रशिक्षण-कार्य अविलम्ब बद करो, अन्यथा सिर काट दिया जाएगा। मार्टिन ने पत्रवाहक के सामने ही पत्र को फाडकर फेक दिया और गर्व के साथ कहा—लो, यह सिर तैयार है, पर मुझे खेद है कि मेरे पास एक ही सिर है। यदि मेरे पास हजार सिर होते तो भी मै धर्म के लिए, अपने प्राणो की तडप के लिए उनका बलिदान कर अपनी आत्मा को सतुष्ट करता, महान् गौरव का अनुभव करता।

युवक बधुओ! अब मैं अपना वक्तव्य अधिक लम्बा नही करूगा। हम भी अपने धर्म-शासन के लिए एक जीवन नही, जितने जीवन हमे और मिले, अपने तन, मन, सर्वस्व निछावर करने का सकल्प ले और इस सकल्प को जन्म-जन्म तक पूरा करने का सकल्प ले।

दायित्व-बोध के सूत्र

विश्व-चेतना दो वर्गों मे विभक्त है—व्यष्टि और समष्टि। यो वर्गवाद की परिधि मे अनेक नये वर्गों का विस्तार हो रहा है, किन्तु उनका सक्षिप्तीकरण व्यष्टि और समष्टि में समाहित हो जाता है। व्यष्टि और समष्टि एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यष्टि के बिना समष्टि का अस्तित्व नही रहता और समष्टि के बिना व्यष्टि का विकास नही हो पाता। सागर और बूद का सम्बन्ध है इन दोनो मे। यद्यपि एक सर्वशक्ति-सम्पन्न अस्तित्व के लिए समष्टि का कोई उपयोग नही है, किन्तु शक्ति-सम्पन्नता की स्थिति प्राप्त करने मे व्यक्ति-चेतना और समूह-चेतना दोनो का अपना-अपना मूल्य है। इस मूल्य की अर्हता वे व्यक्ति समझते है, जो सापेक्ष जीवन मे विश्वास करते है। निरपेक्षता का दृष्टिकोण या निश्चयवादी दृष्टिकोण समूह-चेतना का विघटक है।

समूह-चेतना व्यक्ति-चेतना के जागरण मे सहयोगी है। व्यक्ति-चेतना जब-जब निराशा, नीरसता और अकर्मण्यता से आक्रान्त होती है, समूह-चेतना उसे उठाकर ऊपर ले आती है। ब्रह्माद्वैतवादियो के अनुसार इस सृष्टि मे केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व था। कहा जाता है कि अकेलेपन से उसका मन ऊब गया, 'स एकाकी न रेमे।' अपने एकाकीपन को मिटाने के लिए उसने माया का सृजन किया। यह दृश्यमान बहुरगी सृष्टि ब्रह्माद्वैत की माया है। परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ सामूहिक जीवन-पद्धति का रहस्य भी सम्भवत. यही रहा होगा। इस रहस्योद्घाटन के साथ मैं यह मानकर चलता हू कि व्यक्ति अपनी पारिवारिक सामाजिक और राष्ट्रीय प्रतिबद्धता के साथ संघीय प्रतिबद्धता को भी स्वीकार करे। व्यक्ति की अध्यात्म-चेतना का जागरण धर्म-सघ की प्रतिबद्धता मे अन्तर्निहित है।

सामान्यत सघ शब्द का अर्थ है प्राणी समूह या समान धर्मवाले प्राणियों का समूह। प्रस्तुत सन्दर्भ मे यह एक पारिभाषिक शब्द के रूप मे व्यवहृत हुआ है। यहा 'सघ' शब्द साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—इस चतुर्विध समुदाय का

बोधक है। इसका दूसरा नाम तीर्थ भी है, जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है त्रिस्थ—ज्ञान, दर्शन और चरित्र—इस त्रिक मे ठहरने वाला। तीर्थ और सघ शब्द अर्थ-बोध की दृष्टि से बहुत निकट है। सघ की स्थापना तीर्थंकर करते है। उनके बाद सघ-सचालन का दायित्व आचार्यो पर आता है। आचार्य तीर्थंकर के प्रतिनिधि या उत्तराधिकारी कहलाते है।

हम अपने आपको बहुत सौभाग्यशाली मानते है जिन्हे ऐसा सुगठित, सुव्यवस्थित, शालीन और आदर्श धर्म-सघ मिला। सघ हमारे लिए गति है, प्रतिष्ठा है, त्राण है। एक मछली के लिए पानी का जितना महत्त्व है, फूल के लिए पौधे का जितना उपयोग है, मकान के लिए नीव की जितनी अपेक्षा है, एक व्यक्ति के लिए संघ की उतनी ही महत्ता, उपयोगिता और अपेक्षा है। पानी का अभाव मछली की मृत्यू है, पौधे का अभाव फूल का मुरझाना है और नीव का अभाव मकान के अस्तित्व को खतरा है। इसी प्रकार सघ के आधार से छूटा हुआ व्यक्ति असहाय हो जाता है। आलम्बनहीन व्यक्ति की क्या स्थिति होती है, इसे आप एक छोटी-सी घटना के माध्यम से समझिए—

एक वकील था। अपने जीवन की कठिन घडियो मे वह जब कभी चिन्तन की गहराई मे उतरता, तब उसका एक हाथ कोट के बटन पर चला जाता था। बटन पर हाथ लगते ही उसे वडी राहत मिलती और हर समस्या का समाधान मिल जाता। इसी क्रम से वह न्यायालय मे अनेक मुकदमे जीतता गया। वकील के एक प्रतिद्वन्द्वी को इस रहस्य का पता चल गया। वह उसे नीचा दिखाना चाहता था। एक बार उसने धोवी को प्रलोभन देकर उसके कोट की बटन तुडवा दी। न्यायालय जाते समय वकील कुछ जल्दी मे था, अत यो ही कोट गले मे डालकर चल पडा। प्रकृत प्रसग पर बहस के समय थोडी-सी उलझन खड़ी हुई। अनायास उसका हाथ कोट के बटन पर गया। बटन गायब था, वह अपने आपको सभाल नही सका। पास पडी कुर्सी खीचकर वह वैठ गया। उसका शरीर पसीने से तर-बतर हो गया और मस्तिष्क शून्य हो गया। चिन्तन-शक्ति और वाक्-शक्ति की कुण्ठा से वह अपने काम मे असफल हो गया।

एक वटन का आलम्बन छूटकर व्यक्ति को इतना असहाय बना देता है, तब पारिवारिक या सघीय आलम्बन छूटने से व्यक्ति पर क्या बीतती होगी? सघ एक विशाल छायादार वृक्ष है, जो अपने परिश्रान्त शरणागतो को घनी छाया, मधुर फल, रम्य सुवास और आखो को सुख देने वाले आकर्षक फूलो से लाभान्वित करता है। सघ की सीमाओ मे व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से परिभ्रमण कर अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व को निखार दे सकता है।

सघ के साथ सघपति का बहुत गहरा सम्बन्ध है। सघ की सारणा-वारणा और विकास का समग्र दायित्व सघपति का होता है। जिस सघ का अधिनेता

सक्षम होता है, वह अपने सघ की सीमाओ को विस्तार देता हुआ उसको प्रगति के उच्च शिखरो तक पहुचा देता है। किसी भी सघ के बहुमुखी विकास का श्रेय सघपति को मिलता है तो ह्रासोन्मुख सघ का दायित्व भी उसी पर रहता है। संघ को युग के साथ रखने के लिए आचार्य अपने समाज को मार्गदर्शन देता है। नये चिन्तन और परिवर्तन के क्रम मे उसे समाज की आलोचनाओ का विषय बनना होता है। हर नया तथ्य समाज के गले उतारना होता है। सघ की सुव्यवस्थाओ के लिए सघपति को कडा अनुशासन रखना पडता है तो सघीय सदस्यो को प्रियता भी देनी होती है। सघीय सदस्यो को उनके जीवन की सही दिशा देनी होती है। धर्म-सघ के प्रति समाज की आस्था को टिकाए रखने की जिम्मेदारी भी सघपति की होती है। श्रमण संघ का आध्यात्मिक और व्यवस्था सम्बन्धी समग्र नेतृत्व करता हुआ सघपति श्रावक-समाज को अध्यात्म-जागरण की दिशा मे प्रेरित करता है। सामाजिक स्तर पर नये मूल्यो का निर्धारण उसे ही करना होता है।

हमारे धर्म-सघ के आद्य प्रवर्तक आचार्यश्री भिक्षु ने सघ की सुव्यवस्था और अध्यात्म-साधना की दृष्टि से उस युग मे नया चिन्तन दिया जबकि उनके समय विरोध का वातावरण काफी प्रबल था। उस समय आचार्य भिक्षु अपनी प्रतिभा को व्यक्ति-चेतना के जागरण मे ही समर्पित कर देते तो हमे ऐसा प्रगतिशील सघ नही मिलता। उनकी अद्‌भुत क्षमताओ का अकन हम कर रहे है, किन्तु उस युग में तो वे अपमान और प्रताडनाओ से ही आक्रान्त रहे। अपने सघ के सगठन पक्ष को सुदृढ बनाने के लिए उन्होने जिस कौशल से व्यवस्थाओ का निर्माण किया, वह इतिहास की आश्चर्यकारी घटना है। दूसरे धर्मसघो पर आज भी तेरापथ सघ की शालीन परम्पराओ, व्यवस्थाओ और संगठन का प्रभाव है।

आचार्य भिक्षु के बाद इस सघ मे जितने आचार्य हुए उन सबने अपने-अपने युग की अपेक्षाओ को ध्यान मे रखकर महत्त्वपूर्ण काम किए। उन सबका व्यक्तिश. विश्लेषण न करके यहां दिग्-सूचन मात्र किया जाता है। आचार्यश्री भारीमालजी आचार्यश्री भिक्षु के सशक्त अनुशासन की कपोपल पर चढे और सघ के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया। तृतीय आचार्यश्री रायचन्दजी ने अपने विनय और समर्पण भाव से आचार्य-पद की गरिमा को और अधिक समुज्ज्वल बना दिया। श्रीमज्जाचार्य का व्यक्तित्व और कर्तृत्व मर्यादाओ और व्यवस्थाओ के सफल सशोधन और मौलिक साहित्य-सृजन मे से झाक रहा है। पचम आचार्य मघवागणी की कोमलता और पापभीरुता इतिहास-प्रसिद्ध है। माणकगणी के उज्ज्वल भविष्य का प्रतिबिम्ब उनके साधना-काल की पूर्व भूमिका मे ही झलकने लगा था। दीक्षा से पूर्व उनके पारिवारिक जनो ने कहा—यह बहुत कोमल है, बोझ नही उठा सकेगा। उस समय उनके लिए कहा गया—एक रजोहरण तो उठा

सकेगा ? डालगणी का वर्चस्वी जीवन आज भी अनेक व्यक्तियो की स्मृति मे है। अतीत मे दो आचार्यों की अतिशय कोमलता से कुछ-कुछ अव्यवस्थाए होने लगी, वे स्वय निरस्त हो गई। डालगणी के तेजस्वी व्यक्तित्व का प्रतीक है समग्र सघ द्वारा उनका आचार्य पद के लिए मनोनयन। हमारे अष्टम आचार्यश्री कालूगणी ने अपनी श्रमशीलता और नियमितता से सघ को नया आलोक दिया। शिक्षा के क्षेत्र मे उन्होने नया कीर्तिमान स्थापित किया। उनके आशीर्वाद से ही आज हम अपने सघ मे आध्यात्मिक स्तर को उन्नत बना पाए है।

पूज्य कालूगणी ने अपना दायित्व मुझे सौपा। पिछले वर्षो से मै अपनी और अपने धर्म-सघ की बहुमुखी प्रगति के लिए प्रयत्नशील हू। इस अवधि मे अनुकूल और प्रतिकूल हर परिस्थिति मे मैंने अपने धर्म-सघ को निखरता हुआ पाया है। हमारा सघ कोई रूढ धार्मिक सस्थान नही है। सामयिक और शाश्वत मूल्यो के आधार पर परिवर्तन और स्थिरीकरण का सिद्धान्त हमे मान्य है। मेरे मन मे एक बहुत गहरी तडप है कि जैन दर्शन और तेरापथ दर्शन के हमारे जो आदर्श हैं वे आदर्श की भूमिका तक ही सीमित न रहकर जीवनगत बने। इसके लिए हमे अपनी परम्पराओ, संस्कारो और विचारो का पुनर्विलोकन करना होगा तथा शाश्वत सत्यो को आधार मानकर जीवन-पद्धति का निर्धारण करना होगा।

सघ और सघपति की सक्षिप्त चर्चा के साथ आप लोग अपने दायित्व के बारे मे मार्ग दर्शन चाहते है। अपने दायित्व से प्रतिबद्ध रहकर ही युवापीढी अपने और अपने समाज की हित-सिद्धि मे योगभूत हो सकती है। मेरी समझ मे आज का युवा मानस उत्तरोत्तर प्रबुद्ध बनता जा रहा है। प्रबुद्धता स्वय कर्तव्य की प्रेरणा है। फिर भी दिशा-सूचक यन्त्र के रूप मे कुछ सूत्र आपके आलम्बन बन सकते है। उन सूत्रो की चर्चा के साथ ही मैं अपना वक्तव्य पूरा करूगा। उनसे आपको कोई दिशा मिल पायी या प्राप्त दिशा की ओर गति मे त्वरा आयी तो समाज अपने धरातल को और अधिक सुदृढ बना सकेगा। अब मै युवा दायित्व का एक शब्दचित्र अपने समाज के होनहार युवको के सामने प्रस्तुत कर रहा हू।

१ सघ और सघपति के प्रति गहरा समर्पण भाव।

२ समाज मे सघीय आस्थाओ का निर्माण।

३ परम्पराओ के परिप्रेक्ष्य मे सघ मे नये मूल्यो की ओर ध्यानाकर्षण।

४ निर्धारित मूल्यो का व्यापक स्तर पर प्रसार।

५ सघ के सामयिक निर्णयो के अनुरूप जनमत को प्रबुद्ध करना।

६ समाज के सगठन पक्ष को सुदृढ बनाना।

७ अध्यात्म के कुछ प्रयोगो मे अपने आपको लगाना।

८. धर्म-सघ की प्रभावना के लिए अपना यथासभव योगदान देना।

९. सघ की नीतियो और गतिविधियो से परिचित रहकर भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना।

१०. एक सीमा तक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से ऊपर उठकर सघीय हित-संवर्धन के लिए काम करना।

११. अपने समय, श्रम आदि के विसर्जन से समाज को लाभान्वित करना।

१२. अर्थहीन परम्पराओ मे परिवर्तन का औचित्य सिद्ध करते हुए भी मौलिक परम्पराओ की सुरक्षा करना।

१३. जैन दर्शन और तेरापथ दर्शन का गम्भीर अध्ययन करना।

१४. वर्ग विशेष मे प्रतिवद्ध जैनधर्म और तेरापथधर्म की व्यापकता से जन-जन को लाभान्वित करना। इन्हे कौमवाद की सकीर्ण परिधि से निकालकर जैनधर्म के रूप मे प्रसारित करना।

१५. वर्तमान मे प्रचलित मान्यता, 'प्रामाणिक जीवन जिया ही नहीं जा सकता, प्रामाणिकता केवल आदर्श या कल्पना है', को तोडकर व्यापार और व्यवहार मे पूर्ण प्रामाणिक रहने की साधना करना तथा अपने परिपार्श्व मे वैसा ही वातावरण बनाना।

१६. अपनी संस्कृति और संस्कारो की स्थिति ध्यान मे रखकर जैन संस्कार-निर्माण की दिशा मे विशेष लक्ष्य रखना।

१७. इधर-उधर भटकती हुई अपनी आस्था को केन्द्रित कर देव, गुरु और धर्म के प्रति ही उसका नियोजन करना। लोकमान्य देवो की अवहेलना न करते हुए तटस्थ बुद्धि से अरिहन्त को ही अपना आराध्य समझकर आध्यात्मिक अर्चा-उपासना करना।

दायित्व-बोध का यह सूत्रात्मक शब्द-चित्र आप लोगो को एक नयी प्रेरणा देगा, इसी विश्वास के साथ···

क्या हिन्दू जैन नहीं हैं ?

युवक बन्धुओ !

आप लोगो के मन मे अनेक जिज्ञासाए है, अनेक प्रश्न है और अनेक उलझने हैं। होनी ही चाहिए। जिज्ञासा और उलझन न हो तो व्यक्ति का ज्ञान सीमित रह जाता है और रह जाता है वह अनजान इस दुनिया के विचित्र विचारो और विचित्र व्यवहारो से। जिज्ञासा व्यक्तिगत परिवेश मे हो सकती है और जागतिक समस्याओ पर भी हो सकती है। धर्म के सम्बन्ध मे हो सकती है, अध्यात्म के सम्बन्ध मे हो सकती है, नैतिकता के सम्बन्ध मे हो सकती है और हो सकती है हमारे दैनिक व्यवहारो के सम्बन्ध मे।

जैनत्व और हिन्दुत्व के बारे मे आप लोगो के दिमाग मे कुछ उलझने है। जो हैं वे अकारण नही है। कुछ ऐसी भ्रातिया फैली हुई है जो व्यक्ति को भ्रात बना देती हैं। जैन हिन्दू है या नही ? है तो वे अपने आपको जन-गणना मे जैन क्यो लिखाते है ? नही, तो फिर वे किस वर्ग मे आते है ? हिन्दू धर्म मे जैनो का विश्वास है क्या ? आदि-आदि इतने प्रश्न है, जो अकारण ही आपको उलझा रहे हैं। मेरा जहा तक ध्यान है हिन्दू शब्द का प्राचीन प्रयोग जैन चूर्णि साहित्य मे मिलता है। मेरे अभिमत से जिन भगवान् को अपना आराध्यदेव माननेवाले व्यक्तियो के लिए जैन शब्द का प्रयोग बाद मे प्रचलित हुआ था, पहले जैन मुनियो के लिए निर्ग्रन्थ शब्द काम मे आता था। इसी प्रकार हिन्दू शब्द भी बहुत अधिक प्राचीन नही है। चूर्णि साहित्य मे घुमक्कड जातियो के लिए 'हिण्डू' शब्द का व्यवहार है। प्राकृत भाषा मे हिण्ड धातु भ्रमण अर्थ मे प्रचलित है। कही लोकभाषा मे भी इसका व्यवहार होता है। भारत का इतिहास आर्यो की भ्रमणशीलता के बारे मे काफी स्पष्ट है इसलिए इस अर्थ की सगति बैठ सकती है।

हिन्दू शब्द भौगोलिक स्थिति के साथ भी अपना सम्बन्ध रखता है। सिन्धु नदी के नाम पर भी हिन्दू शब्द का प्रचलन सम्भव लगता है। सिन्धु का हिन्दू रूप उच्चारण-भेद से सम्मत है। अत नदी के उस पार रहने वाले लोगो ने इस

पार रहने वालो के लिए हिन्दू शब्द का प्रयोग किया होगा और आगे चलकर यह शब्द रूढ बन गया होगा। इसी प्रकार हिन्दू शब्द को व्युत्पत्ति की कषोपल पर भी कसा गया—'हिंसया दूयते' —जो व्यक्ति हिंसा से दु खी होता है, परितापित होता है वह हिन्दू है। यह है शाब्दिक दृष्टि से 'हिन्दू' का इतिहास।

राष्ट्रीय सदर्भ मे इस शब्द को पढा जाए तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू शब्द स्वभावत धर्म-परक नही है। इसका मूल सम्बन्ध राष्ट्र से है। हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता जिन लोगो को प्राप्त है, वे चाहे यहा पैदा हुए है, चाहे बाहर से आए है, हिन्दू कहलाने चाहिए। जापान, चीन आदि मे पैदा होने वाले व्यक्ति चाहे वे किसी वर्ग या जाति से सबद्ध है, जापानी और चीनी कहलाते है। तब हिन्दुस्तान की गोद मे पलने वाले हिन्दुस्तानी या हिन्दू क्यो नही कहलायेंगे? भारतीय लोग प्रादेशिकता के आधार पर अपने आपको बगाली, बिहारी, गुजराती मानते है तब अखण्ड भौगोलिकता के आधार पर वे स्वय को हिन्दुस्तानी क्यो नही मानेंगे ?

अब आपके सामने ज्वलन्त प्रश्न है—जैन हिन्दू है या नही ? कितना अटपटा बेबुनियाद और अर्थहीन है यह प्रश्न ? किन्तु यह प्रश्न किसी व्यक्ति विशेष का न होकर साधारण प्रश्न बन गया है, इसलिए इसका समाधान भी करना होगा। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम जैनो को हिन्दुत्व से भिन्न नही कर सकते क्योकि जैन भी हिन्दुस्तान मे जन्मे है, पले-पुसे है और पल्लवित हुए है। हिन्दुस्तान को वे अपना राष्ट्र मानते है, अपना देश समझते है, इसे मातृभूमि का गौरव देते है, अत जैन हिन्दू हैं। किन्तु हिन्दू का अर्थ किसी धर्मशास्त्र विशेष को मानना, उस पर आस्था रखना और उसके अनुसार आचरण करने वाला होगा तो जैन हिन्दू कैसे हो सकेगे ? क्योकि धार्मिक आस्था सबकी अपनी-अपनी होती है। भारतीय दर्शन की मुख्यत दो धाराएं है—वैदिक धारा और श्रमण धारा। श्रमण धारा मे बौद्धो और जैनो का समावेश है। इसका धार्मिक विश्वास वैदिक धारा से भिन्न है। वैदिक धारा श्रमण धारा मे विश्वास नही करती है तो श्रमण धारा भी वैदिक मान्यताओ को स्वीकार करे, यह जरूरी नही है। यद्यपि अच्छी बातें हर दर्शन को मान्य होनी चाहिए, ग्राह्य होनी चाहिए किन्तु जहा अपनी आस्था का विघटन होता हो, उसके स्वीकरण की स्थिति कैसे हो सकती है ? भारतीय सविधान की धर्म-निरपेक्षता किसी भी व्यक्ति के धार्मिक विश्वासो मे ठेस पहुचाने के पक्ष मे नही है।

वेदो का प्रामाण्य मानने वाला ही हिन्दू है, इस परिभाषा के साथ हिन्दू शब्द को धर्म के साथ जोडना, हिन्दू शब्द को साम्प्रदायिक और सकीर्ण बनाना है। मुझे तो लगता है कि केवल जैन ही क्या, अनेक वैदिक धर्मावलम्बी व्यक्ति भी इस परिभाषा से सहमत नही होगे। हिन्दू सस्कृति एक उदार और मर्यादित

सस्कृति रही है। किसी भी धर्म या जाति को आत्मसात करने की अपूर्व क्षमता इसके पास रही है किन्तु इस सकीर्ण व्याख्या ने वह सारी उदारता समाप्त कर दी है। व्याख्या की सकीर्णता से हिन्दू लोग भी सकीर्ण बनते जा रहे है। साप्रदायिक लडाइया और धार्मिक उन्माद सकीर्ण मनोवृत्तियो के ही प्रतीक है। ये दकियानूसी और सकीर्ण विचार युग-चेतना को गुमराह करने वाले है और युवाशक्ति को विघटित करने वाले है। दकियानूसी विचारधारा वाले धर्म-गुरुओ ने हिन्दू सस्कृति को, हिन्दू धर्म को सकीर्ण सीमाओ मे बाधकर हिन्दुस्तानवासियो का हित नही किया है। हमारे अभिमत से हिन्दुत्व को भौगोलिक और राष्ट्रीयता के साथ जोडकर हिन्दुस्तान मे पलने वाले सब धर्मों को हिन्दू धर्म के रूप मे स्वीकार किया जाए तो सारी उलझने समाप्त हो जाएगी।

कोई भी सुलझा हुआ व्यक्ति हिन्दू शब्द को सकीर्ण बनाने के पक्ष मे नही होगा। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ, उसके नेता गुरु गोलवलकरजी, विश्व हिन्दू परिषद् के कुछ व्यक्ति और आज के तटस्थ विद्वान् 'हिन्दू' के बारे मे जिस क्रम से सोच रहे है, उससे हमारी धारणाओ के साथ सामजस्य स्थापित हो रहा है।

अब आप लोगो का दूसरा प्रश्न है कि यदि जैन हिन्दू है तो वे जनगणना मे अपने आपको जैन क्यो लिखवाते है ? यह तो सीधी और स्पष्ट बात है। सरकार की ओर से जनगणना-परिपत्रो मे ऐसी व्यवस्था दी गयी है। वहा धर्म का जो कोष्ठक है वहा पूछा गया है—धर्म हिन्दू है या जैन ? हिन्दू और जैन का वर्गीकरण जब सामने है तो कोई भी जैन धर्म मे विश्वास करने वाला स्वय को जैन क्यो नही लिखाएगा ? मैं तो मानता हू कि यदि हमे हिन्दुस्तान की नागरिकता स्वीकार करने वाले सब लोगो को हिन्दू मानना है तो धर्म के वैकल्पिक कोष्ठको मे हिन्दू शब्द रखा ही क्यो जाए ? वैसे जैन धर्म हिन्दुस्तान मे जन्मा है, पला है, पनपा है, विकसित हुआ है, इस स्थिति मे वह हिन्दू धर्म कैसे नही कहलाएगा ! किन्तु इसे धर्म की सकीर्ण परिधि से बाहर निकालना होगा। हिन्दू शब्द की असकीर्ण व्याख्या से दूसरे करोडो व्यक्ति अपने आपको हिन्दू कहने मे गौरव का अनुभव कर सकेगे।

अव आप लोग पूछेंगे कि राष्ट्रीयता या नागरिकता की दृष्टि से हर कौम के व्यक्ति हिन्दू है तो जैनो को हिन्दू कहने मे क्या आपत्ति है ? मैने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है, अब यह प्रश्न आप उन लोगो से पूछिए जो जैनो को हिन्दुओ से अलग रखना चाहते है। मै अपना अभिमत स्पष्ट कर सकता हू किन्तु अन्य लोगो के चिन्तन का क्या आधार है, यह तो उनके बताने की बात है।

मेरे अभिमत के अनुसार भारतीय सस्कृति या हिन्दू सस्कृति के निर्माण मे उन सब धर्मो का योग है जो हिन्दुस्तान की धरती पर पनपे है। सब धर्मो का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है, सबकी मान्यताए भिन्न-भिन्न हैं। इस स्थिति मे एक

वैदिक धर्म को हिन्दू धर्म मानना, अथवा वैदिक और हिन्दू को एक-दूसरे का पर्याय शब्द मानकर अन्य सब धर्मों—जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, सिक्ख, मुसलमान आदि को हिन्दू न मानने के पीछे हिन्दू शब्द की सकीर्ण व्याख्या के अतिरिक्त और क्या हेतु हो सकता है? मैं समझता हू अब इस सम्बन्ध मे और अधिक स्पष्टीकरण की अपेक्षा नही है। आप लोग स्वय सोचे, स्वयं समझें, अपनी भ्रान्तियों का निराकरण करे। शिविर मे सम्मिलित प्रगतिशील जिज्ञासु युवक व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से ऐसे विवादास्पद विषयो पर चर्चा करें, अपना ज्ञान और अनुभव बढ़ाए तथा अपने समाज को सही दिशा दें।

जैन दर्शन की मौलिक आस्थाएं

आचार्य अपने शिष्यो को दर्शन का अध्ययन करा रहे थे। दर्शन के गम्भीर तथ्य और शैक्ष मुनियो की अपरिपक्व बुद्धि जब परिपक्व नही होती, परिणत नही होती, अर्थबोध सम्यग् नही हो पाता। अपरिणत की भाति अतिपरिणत व्यक्ति कभी तत्त्व का समुचित ग्रहण नही कर सकता; इसलिए परिणतता या परिपक्वता की स्थिति बहुत जरूरी है। आचार्य अपने शिष्यो को पूर्वीय और पाश्चात्य सब दर्शनो मे विशेषज्ञ देखना चाहते थे, अत एक साथ कई दर्शनो के ग्रन्थ प्रारम्भ करवा दिए। शिष्य अवस्था और ज्ञान, दोनो दृष्टियो से अपूर्ण थे। अपने दर्शन की उन्हे सामान्य जानकारी भी नही थी। अन्य दर्शनो की विभिन्न मान्यताओ मे वे उलझ गए। आचार्य ने उनकी उलझन का अध्ययन किया और कुछ समय के लिए दूसरे दर्शनो का अध्यापन स्थगित करने का निर्णय लिया। अब आचार्य उन पर कडा परिश्रम करने लगे। फिर भी क्रम व्यवस्थित नही बना। शिष्यो के मस्तिष्क मे वे विचार, वे मान्यताए परिक्रमा लगाने लगे जो उन्हे विस्मृत करने थे। आचार्य के सब उपाय निष्फल हो गए। शिष्यो के मन मे आचार्य की योग्यता के प्रति सन्देह होने लगा। सन्देह अश्रद्धा जो जन्म देता है, अश्रद्धा से मानसिक प्रवलता क्षीण हो जाती है और व्यक्ति किकर्तव्यविमूढ हो जाता है।

इस घटना से हमे प्रेरणा मिलती है अपने दर्शन को सूक्ष्मता से जानने की, गहराई से समझने की। सम्भवत इसीलिए आप लोगो ने जैन दर्शन की मौलिक आस्थाओ के सम्वन्ध मे जिज्ञासा की है। जो जिज्ञासा आपने की है, तीव्रता से करे। आपके मन मे गहरी तडप जगे, तीव्र आकाक्षा जगे, जैन दर्शन के रहस्यो को जानने की। तीव्रता के बिना व्यक्ति पूर्णता तक नही पहुच सकता। यह तीव्रता जिसमे हो जाती है उसे और कुछ दिखाई नही देता। भारी कोलाहल मे भी उसे कुछ सुनाई नही देता। उसकी आखो मे एक ही दृश्य, एक ही सपना और एक ही उत्सुकता रहती है।

एक युवक आत्मा के वारे मे जिज्ञासु था। उसने सुना, अमुक स्थान पर

अमुक महात्माजी बहुत ज्ञानी हैं। दिनभर भक्तों से घिरे रहते हैं और उन्हे ज्ञान की बाते बताते है। युवक उस दिशा मे चला। महात्मा जी एक मन्दिर मे रहते थे। वहा पहुचकर उसने अत्यन्त उत्सुकता से अपनी जिज्ञासाए रखी। किन्तु महात्माजी मौन थे। निकट बैठे एक भक्त ने कहा—पहले तीन बार मन्दिर की प्रदक्षिणा करो, सात बार महात्माजी के चरण-स्पर्श करो। यहा की विधि ही नही जानते हो, कैसे मिलेगा तुमको ज्ञान ? युवक कुछ गभीर होकर बोला—'महात्माजी, पहले मुझे समाधान दो, उसके बाद सौ बार चरण स्पर्श कर लूगा, प्रदक्षिणा कर लूगा। किन्तु इस समय मैं प्रदक्षिणा के लिए जाऊ और मेरा प्राणात हो जाए तो ? क्या आप मुझे उतने समय तक जीवित रहने का प्रमाणपत्र दे सकते है ? यदि नही तो पहले मुझे अपने प्रश्नो का हल खोजना है, समाधान पाना है। मेरे असमाहित प्राण मुझे कुछ करने नही देंगे।'

उत्साही तरुणो ! क्या आप लोगो के मन मे अपने दर्शन को समझने की इतनी गहरी आकुलता है ? उत्सुकता है ? तडप है ? आकाक्षा है ? है तो लो, मैं बहुत ही सक्षेप मे अपने विचारो को आपके लिए संप्रेपित कर रहा हू।

जैन दर्शन विश्व के सभी दर्शनो से विलक्षण है, क्योकि इसकी आस्थाए विलक्षण है। यो हर दर्शन की आस्थाओ मे कुछ न कुछ विलक्षणता रहती ही है, पर जैन दर्शन की मौलिक स्थापनाएं सचमुच आश्चर्यकारी है। आत्मवाद, आत्मकर्तृत्ववाद, कर्मवाद, अनेकान्तवाद, समतावाद, जातिवाद की अतात्त्विकता आदि अनेक तथ्य ऐसे है जो जैन दर्शन की मौलिकता को अभिव्यक्ति देते हैं।

आत्मवाद

दर्शन का मूल है आत्मा। आत्मा के अभाव मे दर्शन की उत्पत्ति संभव नही है। आत्म-दर्शन ही सबसे वडा दर्शन है। आत्मोपलब्धि या सत्योपलब्धि जैन दर्शन की चरम उपलब्धि है। आत्मा है और वह सर्वशक्ति-सम्पन्न है किन्तु कुछ पुद्गलो के आवरण और विकरण से उस शक्ति का उपयोग नही हो सकता। ऐसी आत्मा संसारी या आवृत आत्मा कहलाती है। सब प्रकार के आवरणो और विकारो से मुक्त शुद्ध चैतन्य आत्मा का मूल स्वरूप है। वह मुक्त आत्मा, सिद्ध आदि शब्दो से भी अपना स्वरूप विश्लेपण करती है। चैतन्य आत्मा का लक्षण या स्वरूप है। वह अरूप है इसलिए आखो का विपय नही है। हर आत्मा परमात्मा बनने की क्षमता रख सकती है। पर कोई परमात्मा उन्हे विकास या ह्रास की स्थिति मे नही ला सकता। कर्म-मुक्त आत्मा परमात्मा है, पर कोई भी आत्मा परमात्मा का अ[illegible] नही है, उसके अधीन नही है।

हर आत्मा मे अनन्त चेतना शक्ति है। हर आत्मा मे सीमाहीन ज्ञान-दर्श[illegible] की उपस्थिति है पर उनका विकास समान नही है। उनका विस्तार एक-रूप नह[illegible]

है। चेतना-विकास का तारतम्य कर्म-हेतुक है। आत्मा का कोई रूप नही है इसलिए वह हमारे लिए प्रत्यक्ष भी नही है। हमारे ज्ञान के साधक तत्त्व है—इन्द्रिया और मन। इन्द्रिया रूपवान पदार्थो का ज्ञान करती है। मन की पहुच भी इन्द्रियगम्य विषयो तक सीमित है अत वह दृश्य नही है। फिर भी 'स्व सवेदन'—मैं सुखी हू, मैं दु:खी हू, सकलनात्मक बोध—प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा अपने-अपने विषय का ग्रहण होने के बाद उनका समग्र अवबोध और चैतन्य गुण आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते है। आत्मा का न कोई आकार है, न रूप, न वह हल्की-भारी है, न स्त्री है, न पुरुष। वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप, निराकार और स्व-सवेदन वेद्य है। मैं कौन हू, कहा से आया हू, कहा जाऊगा आदि जिज्ञासाए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। यदि आत्मा, जीव या चेतन नामक तत्त्व नही होता तो उसके प्रतिपक्षी अनात्मा, अजीव, अचेतन आदि शब्द अस्तित्व मे क्यो आते? आत्मतत्त्व नही होता तो मृत शरीर मे इन्द्रिया सक्रिय क्यो नही रहती? ये सब तथ्य आत्मा और उसके स्वतत्र अस्तित्व मे साधक है। ससारी आत्माओ का सकोच-विस्तार विविध रूपो मे है। एक चीटी और एक हाथी की आत्मा असख्य-प्रदेशात्मक होने पर भी अपने-अपने शरीर से सापेक्ष है। जैन दर्शन आत्मा को देह परिमाण स्वीकार करता है।

आत्म-कर्तृत्व

आत्मा अपने सुख-दु ख की कर्त्ता स्वय है। कर्म करने वाली आत्मा को ही उसका फल भोगना होता है। आत्म-कर्तृत्व जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धात को न माने तो सृष्टि की विचित्रता घटित नही हो सकती। इसमे ईश्वर का योग माने तो वह राग-द्वेष से मुक्त नही रह पाता। ईश्वर किसी को सुखी और किसी को दु खी बनाएगा, उसके पीछे पक्षपातपूर्ण दृष्टि काम करेगी। पक्षपात राग-द्वेषजन्य है। ईश्वर राग-द्वेष-मुक्त होता है अत ईश्वर कर्तृत्व का सिद्धान्त बुद्धि-गम्य नही होता।

कर्मवाद

जैन दर्शन के अनुसार ससार की विचित्रता का हेतु है कर्म। अविद्या, वासना, या अदृष्ट शब्द कर्म के ही द्योतक है। कर्म एक स्वतन्त्र तत्त्व है। आत्मा की अनन्त शक्तियो को प्रभावित करने की क्षमता है इस छोटे-से कर्म तत्त्व मे। शुद्ध आत्मा पर कर्म का कोई असर नही होता, पर ससारी आत्माए कर्म के अधीन है। कर्म पुद्गल द्रव्य है, अजीव है। वह आत्मा का गुण नही है, फिर भी आत्म-प्रदेशो के साथ एकीभूत होकर रहता है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से

कर्म बन्धन की चार अवस्थाएं है। इनके आधार पर ही बद्ध कर्म फल देते हैं। आत्मा को जो सुख-दुःख की अनुभूति होती है। वह कर्मजन्य है। आत्मा और कर्म अनादिकाल से एक साथ रह रहे हैं। पूर्व-निबद्ध कर्म टूटते हैं, उनके साथ ही नये कर्मो का बन्ध हो जाता है। इस दृष्टि से ससारी आत्मा एक क्षण भी कर्म-मुक्त नही हो सकती। आत्मा की प्रमत्तता कषाय और योग कर्म वन्ध के मुख्य हेतु हैं। वद्ध कर्म आत्म-गुणो पर आवरण डालते हैं, विकृति पैदा करते है और प्राप्तव्य वस्तु का प्रतिरोध करते है। जिन कर्मो का बन्धन मन्द विचारो से होता है, उनका फल-भोग कम-अधिक हो सकता है किन्तु तीव्र परिणामो के फल को टाला नही जा सकता।

यहां प्रश्न हो सकता है कि आत्मा चेतन है, शक्ति-सम्पन्न है, अचेतन कर्मों का प्रभाव उस पर कैसे हो जाता है? अचेतन कर्म भी अनुकूल-पतिकूल स्थिति उत्पन्न करने मे सक्षम है। जैसे मादक और विषैले पदार्थों का प्रभाव तत्काल दिखलाई पडता है वैसे ही कर्म पुद्गल अनुकूल और प्रतिकूल फल दे सकते है। अनादिकाल से सम्बद्ध कर्म भी विशेष साधना से आत्मा से अलग हो सकते है। जैसे अन्योन्य सश्लिष्ट स्वर्ण और मिट्टी, तिल और तैल भिन्न-भिन्न हो सकते है वैसे ही आत्मा भी कर्मो का सम्बन्ध विच्छिन्न कर मुक्त हो सकती है। जैन-दर्शन कर्मवाद को मानता है पर इसके आधार पर वह अकर्मण्यता को प्रोत्साहन नही देता। पुरुषार्थ के प्रवल आधार पर आत्मा हर स्थिति का मुकावला कर सकती है।

अनेकान्तवाद

संसार की हर वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है। सासारिक प्राणी की ग्रहण-शक्ति और प्रतिपादन वहुत सीमित है। सीमाहीन को एक सीमा मे आवद्ध कर उसे व्यावहारिक रूप देना,जैन दर्शन की अद्वितीय क्षमता है। अनेकान्तवाद का अर्थ है वस्तु मे अनन्त धर्मो का स्वीकार। सचेतन, अचेतन, छोटी-वडी कोई भी वस्तु अनन्त धर्मो का पिण्ड है। उस अनन्त-धर्मात्मक वस्तु मे शेष सब धर्मो को गौण कर एक धर्म विशेष के प्रतिपादन की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद जैन दर्शन की मौलिक देनो मे विशिष्ट हैं। केवल दर्शन के क्षेत्र मे ही नही, हमारे व्यावहारिक जीवन की अनेक-अनेक समस्याओ को समाधान इन्ही से मिलता है। हर चिन्तन और कथन के पीछे कोई न कोई अपेक्षा रहती है। उस अपेक्षा को नही समझने से स्थिति जटिल बन जाती है। स्याद्वाद उन अपेक्षाओ को ध्यान मे रखने की दिशा देता है, जिनके आधार पर प्रतिपाद्य वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है। कुछ विचारक स्याद्वाद को सशयवाद कहकर टाल देते हैं किन्तु यह तत्त्व को सम्यक् रूप से नही समझने का परिणाम है। स्याद्वाद—कथंचिद्वाद

किसी अपेक्षा से यह सत्य है, किसी अपेक्षा से यह भी सत्य हो सकता है, इस चिन्तन से आग्रह की स्थिति समाप्त होती है। समन्वय, सह-अस्तित्व, सौहार्द, समझौता और अनाग्रह भाव का विकास होता है। स्याद्‌वाद जीवन की सही दिशा है। व्यक्तिगत और सामूहिक हर समस्या का समाधान इसमे सन्निहित है। अनेकान्तवाद और स्याद्‌वाद दार्शनिक और सैद्धान्तिक स्तर पर जितना महत्त्व रखते है, उससे भी अधिक उपयोगी हमारे व्यावहारिक जीवन मे है।

समतावाद

ससार के छोटे-बडे सभी प्राणी के प्रति आत्मौपम्य भाव का विकास समतावाद है। सब प्राणियो की आत्मा समान है। सब मे सुख-दु ख की अनुभूति है। देह की सूक्ष्मता या स्थूलता के आधार पर चेतना-तत्त्व मे न्यूनाधिक्य नही होता। **'पुरिसा तुमसि नाम सच्चेव ज हतव्वति मन्नसि**—जिसे तुम मारना चाहते हो वह तुम ही हो। कितना गहरा है यह दर्शन ! आज विश्व के कुछ भूखण्डो मे साम्यवाद की चर्चा है। उसके प्रयोग भी हुए है, किन्तु जैन-दर्शन के समतावाद की तुलना मे यह नही आ सकता। साम्ययोग, साम्य भाव या समतावाद का सिद्धात विश्वात्मा के साथ ऐक्यानुभूति मे फलित होता है। वैचारिक और मानसिक स्तर पर भी किसी प्राणी को पीडित या परितापित करना समतावादी को मान्य नही हो सकता। लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, निन्दा-प्रशसा, मान-अपमान, जीवन-मरण, अनुकूलता-प्रतिकूलता—ये जितने द्वन्द्व है, उनमे सम रहने का अभ्यास जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। समतावाद का आदर्श समग्र मानव-जाति के लिए सुखद और शान्तिप्रद है।

जातिवाद की अतात्त्विकता

जैन-दर्शन जातिवाद मे विश्वास नही करता। **'एकैव मानुषी जाति'**—मनुष्य जाति एक है। उसका विभाजन, उसका विघटन मानवीय मूल्यो का विघटन है। आचरण के आधार पर, व्यवहार के आधार पर, व्यक्ति की नीतियो के आधार पर, मनुष्य जाति अपने आप अनेक-अनेक वर्गो मे विभाजित हो जाती है। यह विभाजन नैसर्गिक है। इसे हम चाहे या न चाहे, टाला नही जा सकना। किन्तु कल्पित भेदो का निर्माण कर हम मानवता को विघटित होने से नहीं बचा सकते। जैन-दर्शन के अनुसार जातिकृत भेद कल्पित है। जातिवाद कोई शाश्वत तत्त्व नही, समाज की व्यवस्था है। जाति और रग के आधार पर मनुष्य को मानवीय अधिकारो से वचित रखना मानवता का अपराध है। मनुष्य की उच्चता और नीचता का मानदण्ड जाति नही बन सकती। **'णो हीण णो अइरित्ते'**—न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त है। मानवीय भूमिका पर सबको समान अधिकार

प्राप्त है। मनुष्य-मनुष्य की मानवता को किसी भी आधार पर तोड़ा नहीं जा सकता। मनुष्य जाति मे विभाजन का प्रबल तत्त्व कोई है तो वह है कर्म। अपने कर्म के आधार पर मनुष्य ऊच-नीच, अच्छा-बुरा बनता है। पर इसे शाश्वत मूल्य नही दिया जा सकता। कर्म-परिवर्तन के साथ व्यक्ति-परिवर्तन का सिद्धान्त अधिक संगत है। भगवान् महावीर ने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यह परिकल्पना कर्माश्रित है। इस परिकल्पना के आधार पर स्पृश्यता और अस्पृश्यता की बात यथार्थ कैसे हो सकती है? अस्पृश्यता मानवता का कलक है अभिशाप है। जैन दर्शन इसे कभी मान्यता नही देता। एक उच्चकुल-प्रसूत व्यक्ति नीच कर्म करने पर भी अस्पृश्य नही होता तब तथाकथित हीन कुलो मे उत्पन्न होने वाले सदाचारी व्यक्तियो को अस्पृश्य मानना क्या युक्तिसगत हो सकता है?

महारथी कर्ण पाडवो का अपना भाई था। उसका लालन-पालन एक सारथि के घर हुआ। लेकिन उसकी प्रसिद्धि सारथि के औरस-पुत्र के रूप मे हुई। इसलिए उसके शौर्य की अवमावना की गई। शस्त्रविद्या मे कौरवो-पाडवो से अधिक निष्णात होने पर भी उसे अपनी योग्यता को अभिव्यक्ति देने का अवसर नहीं दिया गया। इस प्रताडना से व्यथित होकर कर्ण ने कहा—

सूतो वा सूत-पुत्रो वा, यो वा को वा भयाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्॥

—मैं सारथि हू। सारथि का पुत्र हूं या और कुछ हू, किस कुल मे मेरा जन्म होता है, यह नियति के अधीन है, भाग्य के हाथ मे है। मेरे अधीन है मेरा पुरुषार्थ, वह कही भी किसी भी परिस्थिति मे मेरे साथ रहेगा।

जैन दर्शन पुरुषार्थवाद के माध्यम से जातिवाद को कडी चुनौती देता है। जो लोग अपने-आपको उच्च जाति से सम्बद्ध रखना चाहते है उसका आधार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह वर्ण-व्यवस्था नही, मानवीय मूल्य होगे। मानवता को विघटित करने वाला कोई भी वाद और कोई भी व्यवस्था समाज मे अधिक समय तक टिक नही सकती। अतः हमे जातिवाद की अतात्त्विकता को गहराई से समझकर मनुष्यता के स्तर पर जीना है और दूसरो को ऐसे ही जीवन का बोध देना है। इसी तरह एकेश्वरवाद, देववाद, अन्ध-भक्तिवाद एव कर्मकाण्डो की अनुपादेयता को स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर जैन दर्शन की वैज्ञानिकता का प्रतिपादन करना है।

जैन दर्शन की इन मौलिक आस्थाओ के परिप्रेक्ष्य मे इसकी हर दृष्टि को, हमा[illegible] चिन्तन को हम समझे और जैन सस्कृति के अभ्युदय मे योगभूत बनें। हमा[illegible] सस्कृति, हमारा दर्शन हमे सापेक्ष दृष्टि देता है। किसी भी प्रकार के दुराग्रह [illegible] वह त्याज्य मानता है। हम अपनी आस्थाओ को जैन दर्शन की आस्थाओं [illegible]

कषोपल पर कसे और अपने समाज मे सम्यक् आस्था का निर्माण करे। आस्था हमारे जीवन का बहुत बडा सम्बल है। नीरस बुद्धिवाद हमारी आस्थाजन्य सरसता को न खो दे, इसके लिए युवा पीढी को सतर्क रहना है। युवा वर्ग की आस्थाओ के उज्ज्वल भविष्य की पुण्य कामना करता हुआ मै इस साप्ताहिक शिविर का समापन करता हू और आशा करता हू कि शिविरकाल मे प्राप्त अनुभवो और विचारो से लाभान्वित होते हुए आप समग्र मानव समाज को लाभान्वित करेगे।

बालक के निर्माण की प्रक्रिया

सहजता

इस मानव-लोक का सबसे अधिक सुन्दर, प्रिय और आकर्षक बिन्दु है बालक। उसका निर्विकार सौन्दर्य अनायास ही मन को मुग्ध कर लेता है। काश, मनुष्य विकास की अभीप्सा को छोड अपने बालकपन को सुरक्षित रख पाता! बालक की सरलता, निश्छलता, सहजता, आत्मीयता आदि गुण अवस्था विशेष मे अनुबन्धित न रहे और बढ़ती हुई उम्र के साथ मनुष्य का अनुगमन करते रहे तो अवस्था से युवा या वृद्ध होने पर भी जीवन की मौलिकता सुरक्षित रह सकती है। मौलिकता का जितना ह्रास होता है, आदमी उतना ही कृत्रिम बन जाता है और उसके प्रति होने वाली प्रियता या अप्रियता का सम्बन्ध उसकी उपयोगिता से जुड जाता है।

तीर्थकरो के लिए कहा जाता है कि उनका शरीर बिना अलकार अलङ्कृत रहता है। इस कथ्य की पुष्टि मे उदाहरण दिया जाता है शिशु का। शिशु की प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक होती है। उसका रोना, हसना, खेलना, बोलना यहा तक कि रूठना भी सहज लगता है। उसकी तुतलाती बोली मे भी विशेष प्रकार का आकर्षण होता है। बडे-बूढ़े सब उसका अनुकरण करना चाहते है। प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यो होता है? बालक की इस सर्वप्रियता का राज क्या है? सीधा-सा समाधान है इस प्रश्न का, वह है उपचारहीनता। बालक के जीवन मे उपचार नाम की कोई चीज नही होती। वह जैसा है, उससे अतिरिक्त दिखाई देने मे उसे कोई रस नही होता। उसकी यह सहजता ही सबको अपनी ओर खीचने मे निमित्त बनती है।

सत्यता

जैन आगमो मे सत्य के चार प्रकार बतलाए गये हैं—

काय ऋजुता—शरीर की छलना-रहित प्रवृत्ति।

भाव ऋजुता—मन की छलना-रहित प्रवृत्ति।

भाषा ऋजुता—वचन की छलना-रहित प्रवृत्ति।

अविसवादिता—कथन और आचरण का अविरोध।

बालक के जीवन मे ये चारो बाते सहज होती है, इसलिए उसकी बात मे पूर्वापर विरोध नही होता और न ही उसके व्यवहारो मे किसी प्रकार लुकाव-छिपाव या प्रदर्शन जैसा कोई तत्त्व होता है। बालक के जीवन मे सत्य का सहज अवतरण होता है, जबकि बडा होने के बाद सत्य की शिक्षा देनी पडती है। बच्चे को सिखाने पर भी असत्य बोलना नही आता। उसके कथन मात्र से यह बात प्रकट हो जाती है कि वह जो कुछ कह रहा है, सिखाया हुआ कह रहा है।

एक बार पिता ने अपने पुत्र से कहा—बाहर जो व्यक्ति मेरे बारे मे पूछ रहा है, उसे कह दो कि अभी पिताजी घर मे नही हैं। बालक सहजभाव से उस व्यक्ति के पास जाकर बोला—पिताजी कह रहे है कि अभी पिताजी घर मे नही है। जिसने भी इस बात को सुना, वह बच्चे की सरलता पर मुग्ध हुए बिना नही रह सका।

एक छोटी बच्ची स्कूल गयी। वहा पहले दिन उसकी मैडम ने सिखाया—परस्पर गाली-गलौज नही करना चाहिए। बच्ची घर आयी। उसने अपनी मम्मी को गाली-गलौज करते देखा तो वह बोली—मैडम ने कहा है गाली देना बहुत बुरी बात है। उसकी मम्मी ने सुना-अनसुना कर दिया।

दूसरे दिन वह स्कूल गयी। मैडम ने उसको बोध-पाठ दिया—किसी का तिरस्कार नही करना चाहिए। वह घर गयी। द्वार पर किसी भिखारी को अपने पिता द्वारा तिरस्कृत होते देख उसने धीरे मे कहा—पापा! किसी का तिरस्कार मत करो। पिता ने बिना कुछ सोचे-समझे उसके नाजुक कपोल पर एक चाटा जड दिया। तीसरे दिन उसकी मैडम ने कहा—झूठ बोलना पाप है। घर पर माता ने उसको झूठ बोलने की प्रेरणा दी। इस विसगति से बच्ची सहम गयी। अगले दिन स्कूल जाने का समय हुआ। स्कूल की बस घर से बाहर खडी थी। माता-पिता दोनो उसे जल्दी तैयार होने के लिए कह रहे थे। वह अनमनी होकर बोली—मम्मी! मै स्कूल नही जाऊगी। 'क्यो?' इस प्रश्न के उत्तर मे वह बोली—वहा मैडम सब कुछ गलत पढाती है।

स्कूल मे जो कुछ सुना, सीखा, घर मे उससे सर्वथा विपरीत आचरण से बच्ची का मन घबराहट से भर गया और उसने स्कूल जाने से इनकार कर दिया। किन्तु धीरे-धीरे असत्य बोलने का भी अभ्यास हो जाता है। फिर कुछ भी कहने और करने मे मन प्रकपित नही होता। बचपन मे सत्य की अभिव्यक्ति स्वाभाविक

प्रक्रिया होती है। आगे चलकर असत्य-भाषण स्वाभाविक बन जाता है। इसलिए
जिसे सत्यनिष्ठ रहना है, उसे अपना बालकपन सजोकर रखना ही होगा।

वर्तमान में जीना

वर्तमान मे जीना योगविद्या का प्रमुख सूत्र है। योग के साधक प्रयत्नपूर्वक वर्तमान क्षण मे जीने का अभ्यास करते हैं। सलक्ष्य अभ्यास करने पर भी वह सिद्धि किसी विशिष्ट योगी को ही उपलब्ध हो पाती है, जबकि बालक वर्तमानजीवी होता है। वह अतीत की स्मृति नही करता और भविष्य की कल्पना मे नहीं उलझता। उसके पास कोई एक वस्तु है, उसे उससे छीन लेने पर एक क्षण वह रुआंसा होता है, किन्तु दूसरी वस्तु मिल जाने पर दूसरे ही क्षण खुश हो जाता है। किसी भी व्यक्ति या वस्तु के वियोग का उसके मन पर दीर्घकालीन प्रभाव नही होता। बालक की यह वर्तमानजीविता ही उसे स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता देने वाली है।

प्रभु यीशु एक बगिया के निकट से गुजरे। साथ मे उनके कुछ मित्र थे। उन्होंने मित्रों का ध्यान बगिया की ओर आकृष्ट करते हुए कहा—'देखो, ये फूल खिल रहे है। इन्हे पता नही है, कल सूरज उगेगा या नही ? पौधो को पानी मिलेगा या नही ? पर आज ये सम्पूर्ण रूप से खिले हुए है। कल के साथ इनका कोई अनुबन्ध नहीं है। इसीलिए ये इस रूप मे खिले हुए है। मनुष्य कल की चिन्ता और व्यवस्था करता है। परसो की चिन्ता और व्यवस्था करता है। भावी पीढ़ी की चिन्ता और व्यवस्था करता है। अपनी कब्र की भी चिन्ता और व्यवस्था करता है। भविष्य की चिन्ता मे आज की विस्मृति हो जाती है। आज का मूल्य चुक जाता है। आज की हत्या हो जाती है और आदमी कभी वर्तमान मे जी नहीं सकता। बच्चा अपने आज को जीवित रखता है। इसीलिए वह कुछ बन जाता है।

अभय

बालक अभय होता है। भय के साथ उसका कोई संपर्क नही होता। वह आग में हाथ डाल लेता है और साप को पकडने के लिए तत्पर रहता है। हाथ जल जाएगा या सांप काट लेगा, ऐसी भय-चेतना उसमे सक्रिय नही रहती। कठिन-से-कठिन काम करते समय भी उसमे किसी प्रकार की झिझक नही होती। कहा जा सकता है कि उसमे सोचने-समझने की शक्ति नही होती। उसका बुद्धिबल और विवेक जागृत नही होता। यह प्रश्न सोच-समझ या बुद्धि-विवेक का नही, सहज मानवीय गुण का है। अभय बालक का सहज गुण है। वह भय को जानता ही नहीं है। उसे सिखाया जाता है। बच्चा जब भी रोता है, आग्रह करता है या [illegible]

करता है, जिससे बडे लोगो को डिस्टर्ब होता है तब वे कहते है—भूत ले जाएगा, हव्वा पकड लेगा, कान काट लेगा, हाबू खा जाएगा आदि। ऐसे प्रसग भय की सज्ञा को जगाते है अथवा बच्चे को असत्य बोलना सिखाते है।

गृहिणी रसोई मे विशेष खाद्य पदार्थ बनाती है और उसे अलमारी मे रख देती है। छोटे बच्चे ने अलमारी खोलने का प्रयत्न किया तो गृहिणी बोली—बेटा! आलमारी के अन्दर हाबू बैठा है। इसे खोलना मत। खोलोगे तो हाबू खा जाएगा। बच्चा एक बार तो सहमा। पर बार-बार उसमे मिटाई रखते देख उसका मन ललचा गया। एक दिन उसने मा की आख बचाकर आलमारी को थोडा-सा खोला। शायद किसी कोने से हाबू निकल आये, इस डर से वह कुछ देर खडा रहा। किन्तु जब भीतर से कोई बाहर नही आया तो उसने हिम्मत कर अलमारी खोल ली। वहा रखी हुई मिठाई को बच्चे ने जी-भर कर खाया और अलमारी बन्द कर दी। कुछ देर बाद गृहिणी ने किसी काम से अलमारी खोली। बच्चे की करतूत उससे छिपी नही रही। उसने बेटे को बुलाकर कहा—'बोलो, अलमारी किसने खोली? मिठाई किसने खायी?' बच्चे ने सारी व्यवस्था पहले से सोच रखी थी। वह तटस्थ भाव से बोला—'मा! मुझे क्या पता? तुम कह रही थी कि इसमे हाबू रहता है। मिठाई वही खा गया होगा।'

बच्चे के इन बोलो ने मा की विचार-चेतना को जगा दिया। उसे अपनी भूल का अनुभव हो गया। इस घटना से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि बच्चे के सस्कारो को बिगाडने मे माता-पिता की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण होती है।

सच तो यह है कि बच्चे का लालन-पालन करना, उसे सरक्षण देना और सस्कारी बनाना बहुत कठिन है। सलक्ष्य बच्चो के निर्माण का प्रयत्न भी बहुत कम होता है। कुछ बच्चे ठोकरे खाते-खाते बन जाते हैं और कुछ बिगड जाते है। बालक का निर्माण करने के लिए माता का बालक बनकर रहना जरूरी है अन्यथा किसी भी बच्चे का निर्माण सही ढग से नही हो सकता।

सामाजिकता एक समस्या

बालक मे न वासना होती है, न तृष्णा होती है और न आकाक्षा होती है। उसके मन मे कुछ और व्यवहार मे कुछ, ऐसा भी नही होता। वह भूख बिना खाता नही और भूख लगने के बाद खाये बिना रहता नही। कुछ माताए समय की प्रतिबद्धता के क्रम से बच्चे को बार-बार दूध या दूसरे पदार्थ देती है। बच्चे को भूख नही होती, इसलिए वह खाना नही चाहता। उसे जबरन खिलाया-पिलाया जाता है। परिणाम यह होता है कि भूख के अभाव मे भोजन को सुपाच्य बनाने वाले स्राव नही होते, फलत बच्चा बीमार हो जाता है। उसे उल्टी या दस्त होने

लगते है। डॉक्टर का उपचार चलता है। एलोपैथिक औषधियो से पेट [illegible] खराब हो जाती है और बच्चे का स्वास्थ्य एक समस्या बन जाता है।

बच्चा सहज होता है, इसलिए किसी प्रकार का वेग धारण नही कर [illegible] जब और जहा इच्छा होती है, वह मलोत्सर्ग एव मूत्रोत्सर्ग कर देता है। [illegible] जैसे बडा होता है, उसे सामाजिकता सिखायी जाती है। इस शिक्षण-प्रशि[illegible] मध्य वह वेग धारण करना भी सीख लेता है, जो उसके स्वास्थ्य की दृ[illegible] दुष्प्रभावी प्रमाणित होता है।

निर्माण की प्रक्रिया

बच्चा प्रकृति से कोमल होता है। वह किसी प्रकार की क्रूरता और प्रति[illegible] को सहन नही कर सकता। उसके साथ क्रूर व्यवहार करना उसे क्रूर बनाने [illegible] प्रयत्न करना है। बच्चे मे सग्रह करने की वृत्ति नही होती। वह अपने और [illegible] की भेदरेखा को नही जानता। ये सब ऐसी वृत्तिया है जो स्थायी रह [illegible] मनुष्य इस दुनिया का सर्वाधिक सुखी, सर्व प्रकार से सुन्दर और सर्वश्रेष्ठ प्रा[illegible] हो सकता है।

बालक का निर्माता सृष्टि का निर्माता है। उसे प्रारम्भ से ही कुछ बातो [illegible] ओर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जिससे बच्चे का सही निर्मा[illegible] हो सके—

- बच्चे को हर बात की सही जानकारी दी जाए।
- उसकी जिज्ञासाओ का उत्तर देते समय झुझलाहट से बचा जाए।
- बच्चे मे प्रारम्भ से ही अच्छी आदते डालने का प्रयत्न किया जाए।
- बच्चे को प्रारम्भ से ही स्वावलम्बी बनाने की प्रेरणा दी जाए।
- बच्चे को बुरे व्यक्तियो के सपर्क से दूर रखा जाए।
- बच्चे को बोध देने के लिए मनोवैज्ञानिक तरीके काम मे लिये जाए।
- बच्चे की सहजता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाए।

संस्कार-केन्द्रों की भूमिका

बच्चे का निर्माण परिवार का निर्माण है, समाज का निर्माण है, राष्ट्र का निर्मा[illegible] है। जिस राष्ट्र के बच्चे अनुशासित और चरित्रनिष्ठ नही होते, वह राष्ट्र [illegible] शक्ति सपन्न और गौरवशाली राष्ट्र नही बन सकता। इसलिए केन्द्र सरका[illegible] राज्य सरकारे, शिक्षण सस्थान, सामाजिक और धार्मिक सस्थाए—इन सब[illegible] दायित्व है कि वे बच्चो के प्रति लापरवाही न बरतें। बल्कि उनके सर्वा[illegible] विकास की योजनाओ को सही समय मे क्रियान्वित करें।

हमारे समाज की एक सक्रिय सस्था है—अखिल भारतीय तेरापथ युव[illegible]

परिषद् । उसने सस्कार-केन्द्रो मे बच्चो को प्रशिक्षित करने का निर्णय लिया है। इस निर्णय के अनुसार स्थान-स्थान पर सस्कार-केन्द्र खुल रहे है, पर अब तक उनकी कोई व्यापक प्रतिक्रिया सामने नही आयी है। अपेक्षा है, इस दिशा मे ठोस प्रयत्न हो। बच्चो को प्रशिक्षित करने के क्रम से उनके ग्रन्थितत्र पर भी ध्यान दिया जाए। जिन ग्रन्थियो को सक्रिय या निष्क्रिय रखने से बालको का विकास हो, उन्हे वैसा ही रखने के लिए कुछ विशेष प्रयोग कराए जाए।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि बारह वर्ष की अवस्था के बाद भी किसी बच्चे की पीनियल ग्लैण्ड को सक्रिय रखा जा सके तो उसके व्यक्तित्व को विकसित किया जा सकता है। बारह वर्ष की अवस्था तक यह ग्रन्थि स्वत. सक्रिय रहती है और अपराधमूलक प्रवृत्तियो पर नियत्रण करती है। इस उम्र के बाद वह निष्क्रिय होने लगती है, किन्तु प्रयत्नपूर्वक उसको सक्रिय रखा जा सकता है।

जीवन-विज्ञान एक ऐसा ही अभिक्रम है, जो ध्यान, प्राणायाम, कायोत्सर्ग, योगासन आदि माध्यमो से ग्रन्थितत्र को नियन्त्रित रखने का प्रशिक्षण देता है, प्रयोग करवाता है, जिससे आन्तरिक व्यक्तित्व का विकास होता है। शिक्षा-शास्त्रियो द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम बाह्य व्यक्तित्व को सवारता है, पर उससे जीवन की सर्वांगीण कला मे पारगामिता नही मिल सकती, क्योकि वह क्रम अपूर्ण है, अधूरा है। उसको पूर्णता दी जा सकती है पाठ्यक्रम के साथ जीवन-विज्ञान की शिक्षा को अनिवार्य करके। जीवन-विज्ञान बच्चो को सिखाता है कैसे चलना, कैसे बोलना, कैसे खाना, कैसे व्यवहार करना, इससे भी आगे, कैसे श्वास लेना ? इत्यादि। ये सब जीवन की बुनियादी बाते है। इन्हे सीखे बिना कोई भी बालक अपने सपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण नही कर सकता। आज ससार मे एक प्रतीक्षातुर सन्नाटा है, उसे तोडने के लिए प्रायोगिक कार्यक्रमो पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। ऐसा होने से ही अन्तर्राष्ट्रीय बालवर्ष मनाने और बाल विशेषाक निकालने की सार्थकता है।

युवक नयी दिशा खोलें

जीवन की तीन अवस्थाएं होती हैं—बचपन, यौवन और बुढापा। बचपन अधूरा होता है, बुढापा अक्षम होता है, जीवन को समूचेपन से जीने का समय है यौवन। '**मज्झिमेण वयसा एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिता**'—*भगवान् महावीर की यह वाणी* युवावस्था को जीवन का मध्यकाल बताकर जागरूकता का सन्देश दे रही है। जो व्यक्ति मध्यम वय मे सम्बुद्ध नही होता, क्षमताओ का उपयोग नही करता, वह फिर क्या करेगा? युग की सम-विषम परिस्थितियो से उत्पन्न और अनुभूत भाव बोध को अभिव्यक्त करने तथा जीवन की विरूपताओ को बदलने की उदग्र आकांक्षा इसी वय मे जन्म ले सकती है।

यौवन को प्राप्त करना भी एक सुयोग है। काफी लोग ऐसे होते हैं जो युवा बनते ही नही। वे बचपन मे सीधे बुढ़ापे मे चले जाते है। युवावस्था के दौर मे उन्हे भी गुजरना होता है, पर उनमे युवकत्व नही आता है। उनके निस्तेज चेहरे और कर्मचेतनाशून्य उच्छ्वास मात्र ही उस यौवन के साक्षी रहते है। इससे अधिक न तो वे अपने लिए कुछ कर पाते हैं और न समाज को ही कुछ दे पाते है।

कुछ लोग जीवन की तीनो अवस्थाओ पर क्रमश· आरोहण करते है। वे युवा बनते है, फिर भी यौवन की उपयोगिता सिद्ध नही कर पाते। वे इतना सतही जीवन जीते हैं कि व्यक्तिगत स्पर्द्धाओ और महत्त्वाकाक्षाओ मे उलझकर अपने ध्येय को विस्मृत कर देते हैं। उनका यौवन कार्यकारी तो होता ही नही, खतरनाक प्रमाणित हो जाता है। युवाशक्ति जितनी विराट् और उपयोगी है, उतनी ही खतरनाक भी है, इस तथ्य को सामने रखकर युवाशक्ति का रचनात्मक उपयोग करने की जरूरत है।

गाधीजी से एक बार पूछा गया कि उनके मन की आश्वस्ति और निराशा का आधार क्या है? गाधीजी बोले—'इस देश की मिट्टी मे अध्यात्म रमा है,

यह मेरे लिए सबसे बडा आश्वासन है। पर इस देश की युवा-पीढी के मन से करुणा का स्रोत सूख रहा है, यह सबसे अधिक चिन्ता का विषय है। गाधीजी की यह चिन्ता सार्थक थी, क्योकि किसी भी देश का भविष्य उसकी युवापीढी होती है। यह पीढी जितनी जागरूक, तेजस्वी, प्रज्ञावान, चरित्रनिष्ठ और सक्षम होगी, भविष्य उतना ही समुज्ज्वल और गतिशील होगा।

लक्ष्य की स्थिरता · सकल्प की दृढता

आज की युवापीढी विसगतियो मे जी रही है। एक ओर उसकी अपनी आकाक्षाए है। वह कुछ बनना चाहती है, कुछ करना चाहती है। दूसरी ओर है उसके सामने लक्ष्यहीनता से जनमा हुआ भटकाव। कुछ बनने और करने का स्वप्न वही बिखर जाता है, जहा लक्ष्य की स्थिरता न हो। युवा पीढी अपने जीवन के उस चौराहे पर खडी है, जहा उसे अपनी मजिल की पहचान नही है। वह निर्णय नही कर पा रही है कि किस दिशा मे आगे बढना श्रेयस्कर है। वह जिस धरती पर पाव टिकाकर चल रही है, उसकी ठोसता के बारे मे स्वय ही सदिग्ध है। इस सदेह की यातनाओ से वह इतनी विक्षिप्त हो गयी है कि उसकी विवेक-चेतना मूर्च्छित होती जा रही है। मूर्च्छा से भरा हुआ युवक निर्माण के स्वप्न लेता है, पर उसकी प्रवृत्ति की धारा ध्वस की ओर मुड जाती है। उसके भीतर जमा हुआ विद्रोह का लावा पिघलकर समूची मानवीय सभ्यता को क्षत-विक्षत और अपाहिज होने के लिए विवश कर देता है। यह स्थिति न उस पीढी के लिए हितावह है और न समकालीन सामाजिक या राष्ट्रीय चेतना के लिए। इस दृष्टि से युवा पीढी को अपना लक्ष्य स्थिर कर उसी को केन्द्र मे रख अपनी प्रवृत्तियो को दिशा देनी चाहिए। जिसका लक्ष्य स्थिर नही, और लक्ष्य तक पहुचने का सकल्प दृढ नही तो, वह लक्ष्यहीन और सकल्पहीन युवक कुछ कर सकेगा, इस सभावना को ही समाप्त कर देना चाहिए।

बेचैनी युवको मे उतरे

किसी भी वर्ग या समाज की युवा पीढी अपनी शक्ति का उपयोग रचनात्मक कामो मे करती है, उसे देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। मानसिक दृष्टि से मै उसके साथ हो जाता हू। मेरे मन और मस्तिष्क की मगलमय भावनाए उसी दिशा मे प्रवाहित होने लगती है। उस पीढी के साथ मेरा तादात्म्य भाव जुड जाता है और मुझे अनुभव होता है कि कोई पुकार मेरे अन्त करण को उद्वेलित कर रही है। जब-जब ऐसा होता है, मै युवा पीढी के बहुआयामी विकास को देखने के लिए बेचैन हो जाता हू। मेरी यह बेचैनी एक-एक युवक के भीतर उतरे, उसकी ऊर्जा के केन्द्र प्रकम्पित हो और उस प्रकम्पन-धारा का उपयोग सकारात्मक

काम मे हो तो युवा पीढ़ी के जीवन मे एक विशिष्टता का आविर्भाव हो सकता है।

युवाशक्ति का सामूहिक नियोजन

तेरापथ समाज संख्या की दृष्टि से बहुत बडा समाज नही है। फिर भी इस समाज के पास एक शक्तिशाली और वर्चस्व-सम्पन्न युवा पीढ़ी है। वह अपनी शक्ति को रचनात्मक काम मे नियोजित करना चाहती है, कर रही है, यह सन्तोष का विषय है। विकेन्द्रित युवाशक्ति को केन्द्रित करने के लिए उसने एक सस्था को माध्यम बनाया है। इस अखिल भारतीय तेरापथ युवक परिषद् नामक सस्था ने समाज के युवको को सकलित करने का काम शुरू कर दिया है। स्थान-स्थान पर युवक परिषदो का गठन कर युवको को संगठित, अनुशासित और व्यवस्थित करने की दृष्टि से उपक्रम किये जा रहे हैं। अब तक देश भर मे सौ से अधिक युवक परिषदों से कई हजार युवक जुड चुके है। परिषदो के साथ और अधिक युवको को जोड़ने का लक्ष्य बना लिया गया है। फिर भी मुझे लगता है कि जितने युवक यहा आये है, उनसे कई हजार गुना युवक इस सगठन से असपृक्त हैं। उन सबको संगठित करने का कोई कारगर उपक्रम हुआ नही है। यदि ऐसा होता तो युवाशक्ति के सामूहिक नियोजन की सभावनाए और अधिक बढ जाती।

हमारे समाज की युवा पीढी व्यसन-मुक्त और रूढि-मुक्त हो, यह एक प्राथमिक कार्यक्रम है। इसमे युवको का उत्साह उल्लेखनीय है। आज जब कि युवक मादक व नशीले पदार्थों का पर्याय बनता जा रहा है, समाज के अधिसख्यक युवक व्यसन-मुक्त है। जिन युवको मे यह दुर्बलता है, उन्हे भी ऐसे प्रयोग सुझाये जा रहे है, जिससे वे अपनी पूरी पीढ़ी को व्यसन-मुक्त घोषित कर सकें।

सामाजिक रूढियो का जहा तक सवाल है, युवा पीढी मे उनके प्रति कोई दिलचस्पी नही है। फिर भी जब तक इस दिशा मे कोई क्रान्तिकारी कदम नहीं उठता है, समाज रूढि-मुक्त नही बन सकता। अणुव्रत और नये मोड के द्वारा जो परिवर्तन आये है, उन्हे आगे बढाने तथा नयी रूढियो को पनपने से रोकने का काम युवक परिषदो को व्यापक स्तर पर उठाना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो समाज अधिक सशक्त, स्वस्थ और सस्कारी बन सकता है।

नयी संस्कृति का सूर्योदय

अखिल भारतीय युवक परिषद् प्रतिवर्ष एक अधिवेशन बुलाती है। उस समय उसे अपनी संगठनशक्ति और कर्मशक्ति के अकन करने का अवसर मिलता है तथा समाज उसके कर्तृत्व के प्रति आशावान बनता है। मैंने देखा है कि इन वर्षों मे

समाज के युवको ने अनेक क्षेत्रो मे आशातीत प्रगति की है। वे शिक्षा के क्षेत्र मे आगे बढे है, विज्ञान के क्षेत्र मे उन्होने पादन्यास किया है और उनकी व्यावसायिक क्षमताए भी बढी है। व्यवसाय के क्षेत्र मे वे अपने चरित्र को ताक पर रखकर गलत तरीके काम मे नही ले रहे है, यह एक बडी उपलब्धि है। युवा पीढी की यह नैतिक आस्था उत्तरोत्तर पुष्ट होती रहेगी तो समाज के सोच-विचार की पद्धति बदलेगी और उससे पूरी समाज-व्यवस्था प्रभावित हुए बिना नही रहेगी।

युवा पीढी के विकास की इस प्रतिस्पर्द्धा मे जो युवक सलग्न है, उनका कुछ नयी दिशाओ मे प्रवेश होना भी जरूरी है, जैसे—उच्चस्तर की जैन फिलॉसफी मे अभी तक युवा पीढी का प्रवेश नही हो पाया है। यदि कुछ युवक भी अपनी अभिरुचि को इस ओर मोड सके तो एक नई सस्कृति का सूर्योदय हो सकता है। इसी प्रकार उच्च स्तर की राजनीति मे भी आज युवको का वर्चस्व नही है। हलके स्तर की राजनीति मे युवक प्रवेश करे, यह मै नही चाहता। किन्तु प्रज्ञासम्पन्न, चरित्रसम्पन्न और कर्मसम्पन्न युवक राजनीति मे नही जायेगे तो उससे किसका भला हो सकेगा ?

समाज मे कुछ बुराइया होती है। लोग उन्हे देखते है और साक्षी भाव से देखते रहते है। उनके मन पर कोई प्रतिक्रिया नही होती। उनका मौन बुराइयो को प्रोत्साहन देता है। अन्य लोगो की तरह युवक भी ऐसे प्रसग पर चुपचाप बैठे रहे, उन नागवार हरकतो को सहते रहे, यह किसी भी दृष्टि से वाछनीय नही है। समाज मे कही भी बुराई हो, उसकी जडे उखाडने का सचेतन प्रयास हो तो एक महत्त्वपूर्ण काम हो सकता है।

दोहरा लाभ

युवा पीढी के सामने अपनी क्षमताओ को काम मे लेने का एक अवसर है। वह अवसर है 'अमृत-महोत्सव' का। नही चाहते हुए भी मैने उसके लिए स्वीकृति दी है, इस मूल्य पर स्वीकृति दी है कि उसको केवल समारोह या आयोजन का रूप न देकर ठोस रचनात्मक काम का रूप दिया जाए। किसी भी रचनात्मक काम के साथ युवको को जुडना ही है। इस बात को ध्यान मे रखकर युवक परिषद् देश भर के युवको से सम्पर्क कर उन्हे एकसूत्रता मे बाध दे तो वह अपनी वाछित दिशा मे अग्रसर हो सकती है। पर इसके लिए युवादृष्टि या पाथेय प्रेषण ही पर्याप्त नही है। इस दिशा मे आगे बढने के लिए साक्षात्कार की जरूरत है। युवको की टोलिया गाव-गाव मे घूमकर एक-एक युवक से सम्पर्क करे, उसे वर्तमान हालात मे युवा पीढी के दायित्व की अवगति दे तथा युवक परिषद् की गतिविधियो की जानकारी देकर खण्ड-खण्ड युवाशक्ति को अखण्ड रूप मे नियोजित करने

की प्रेरणा दे। ऐसी अधिक नही, आठ-दस टोलियो की अपेक्षा है, जो पूरे देश मे माहौल बना सके। इससे उन हजारो-हजारो युवको को तो नयी दिशा और नया बल मिलेगा ही, युवक परिषद् भी शक्ति-सम्पन्न बनेगी, ऐसा विश्वास है।

नौ युवकों की जरूरत है

मेरे बारे मे एक आम धारणा बन गयी है कि मैं स्वप्नदर्शी व्यक्ति हू। स्वप्न देखना मुझे अच्छा लगता है। मैं अपने उस आह्लाद को अभिव्यक्ति नही दे सकता, जो मेरे किसी भी स्वप्न के रूपायित होने पर होता है। वैसे मेरे स्वप्न-चित्रो को कैनवास पर उतारने मे पूरा धर्मसंघ मेरे साथ है। साधु-साध्विया ही नही, श्रावक-श्राविकाए भी इस दिशा मे जागरूक है। फिर भी मुझे कुछ ऐसे युवको की जरूरत है, जो दृढ अध्यवसाय और प्रबल इच्छाशक्ति के साथ मेरे विचारो को झेल सके। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—'यदि मुझे नचिकेता की श्रद्धा से सम्पन्न केवल दस या बारह युवक मिल जाए तो मैं इस देश के विचारो और कार्यों को एक नयी दिशा मे मोड सकता हू।' मेरी भी अनेक आशाए, अपेक्षाए युवा-पीढी मे केन्द्रित है। मैं यहा उपस्थित और अनुपस्थित सभी युवको का आह्वान करता हू कि यदि मुझे सुगनचन्द आचलिया, भवरलाल दूगड, पन्नालाल सरावगी और शोभाचन्द सुराना जैसे नौ युवक भी मिल जाए तो मैं अपने देखे-अनदेखे कई स्वप्नो को साकार कर सकता हू और मानवीय एव आध्यात्मिक कार्यक्रमो को अधिक तीव्रता दे सकता हू। वे युवक अपने लक्ष्य के प्रति इतने समर्पित हो कि उन्हें उसके अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे। सोते-जागते उसी के बारे मे सोचे, उसी के सपने ले और उसी दिशा मे केन्द्रित रहे, तभी वे अपने निष्ठावान व्यक्तित्व और ऊर्जस्वित कर्तृत्व को सार्थकता दे सकते हैं।

समस्या के बीज : हिंसा की मिट्टी

वर्तमान समस्याओ का विश्लेषण कीजिए। आपको ज्ञात होगा कि अधिकाश समस्याए हिंसा की भावना से उत्पन्न है। युद्ध, लडाई और सघर्ष—इन सबका मूल भय है। बिजली जैसे उमडते हुए बादलो की सूचना देती है, वैसे ही भय हिंसा के अवतरण की सूचना देता है। भय हिंसा से उत्पन्न होता है और हिंसा भय से उत्पन्न होती है। यदि एक आदमी दूसरे आदमी से घृणा नही करता, उसे नही सताता, नही ठगता और नही मारता तो मानवीय सपर्को मे भय का जन्म ही नही होता। किन्तु एक आदमी ने दूसरे आदमी को सताया है, लूटा है, ठगा है, तिरस्कृत किया है और मारा है, इसीलिए मनुष्य के मन मे भय की सृष्टि हुई है। वह भय से प्रेरित होकर ही शस्त्र-निर्माण की दिशा मे आगे बढा है। प्रस्तर-आयुधो से अणु-आयुधो तक के विकास की पृष्ठभूमि मे भय ही सबसे बडा प्रेरक तत्त्व है। एक मनुष्य धन का सग्रह करता है। उससे आप पूछिये—तुम सग्रह क्यो करते हो ? उसका सहज उत्तर होगा कि वह बुढापे मे काम आएगा। बीमारी होने पर उसके बिना और सहारा ही क्या है ? बुढापे और बीमारी मे सुरक्षा का आश्वासन नही है। इसी भय से प्रेरित होकर मनुष्य सग्रह करता है। यदि जीवन की सुरक्षा को कोई आश्वासन हो तो सग्रह की प्रेरणा अपने आप शिथिल हो जाती है। सग्रह हिंसा है। उसकी प्रेरणा भय है। भय सब जगह वास्तविक ही होता है, ऐसी बात नही है। बहुत बार वह काल्पनिक भी होता है। किन्तु एक जगह वह वास्तविक होता है तो पाच जगह काल्पनिक भी चल जाता है। खोटा सिक्का सच्चे सिक्के के आधार पर ही चलता है।

हिंसा और भय से बचने के लिए ही मनुष्य ने समाज का निर्माण किया था। जीवन की सुरक्षा का आश्वासन पाने के लिए ही मनुष्य ने समाज का निर्माण किया था। क्या आज समाज उसे आश्वासन दे रहा है ? क्या समाज मे उसे आश्वासन देने की क्षमता है ? मैं उस सामाजिक व्यवस्था को त्रुटिपूर्ण मानता हू, जो मनुष्य को सुरक्षा का आश्वासन नही देती। जीवन की हर समस्या और

दुर्बलता के लिए आश्वासन दे सके ऐसी समाज-व्यवस्था मे ही अहिंसा के बीज अकुरित हो सकते है। आज समूचे ससार मे विद्यार्थी एक समस्या के रूप मे सामने आ रहा है। क्या नयी पीढी पुरानी पीढी से सघर्ष करने के लिए ही उत्पन्न हुई है ? क्या विद्यार्थी के उफनते हुए आक्रोश के पीछे पुरानी पीढी की हिंसा का हाथ नही है ? हर नयी पीढी को पुरानी पीढ़ी से हिंसा के विचार विरासत मे मिलते आ रहे है। पुरानी पीढ़ी का अपना अभिनिवेश ही नयी पीढ़ी को विद्रोह के लिए विवश कर रहा है। देश और काल के साथ बनने वाले विचार और जीवनक्रम जब शाश्वत का रूप ले लेते है, तब नयी पीढी के मन मे पुरानी पीढी के प्रति अविश्वास पैदा हो जाता है।

विचार एक प्रवाह है, व्यवस्था एक परम्परा है। प्रवाह अपनी गति से आगे बढता रहे और परम्परा उत्तरोत्तर गतिशील रहे, तब भय पैदा नही होता। उसकी गति अवरुद्ध हो जाने पर वे भय के हेतु बन जाते है। भारतीय दर्शनो मे मिथ्या दृष्टिकोण की लम्बी चर्चा मिलती है। अशाश्वत को शाश्वत और शाश्वत को अशाश्वत मानना मिथ्या दृष्टिकोण है। जो अपना नही है, उसे अपना और जो अपना है, उसे अपना नही मानना मिथ्या दृष्टिकोण है। इससे भय उत्पन्न होता है। सत्य की परिधि मे पहुंचे बिना कोई भी आदमी अभय नही हो सकता और अभय हुए बिना कोई भी आदमी अहिंसक नही हो सकता।

वास्तविकता की भूमिका पर पहुचकर यदि विद्यार्थी-समस्या को देखा जाए तो उसके समाधान मे मुझे कोई सन्देह नही है। आज के विद्यार्थी के मन मे पुराने सामाजिक मूल्यो के प्रति विद्रोह की चिनगारी सुलग रही है। यदि उन्हे नये विचारों, नयी आर्थिक समस्याओ और नये सामाजिक मूल्यो को विकसित करने का अवसर दिया जाए तो हिंसक उपद्रव सहज ही निरस्त हो सकते हैं।

विद्यार्थी-समस्या का एक दूसरा पहलू भी है और वह बहुत ही आश्चर्यपूर्ण है। कुछ लोग हिंसा की सफलता मे विश्वास करते हैं। उनका मानना है कि हिंसा से लक्ष्य के निकट जितना शीघ्र पहुचा जा सकता है, उतना अहिंसा से नही पहुचा जा सकता। वे विद्यार्थियो को हिंसा के लिए प्रेरित करते हैं और विद्यार्थी अनुभव की अपरिपक्वता के कारण उसे स्वीकार कर लेते है। हिंसा से कुछ काम सध जाते हैं। उससे उनमे विश्वास पैदा हो जाता है। यह विश्वास बहुत बड़ा भ्रम है। सब कार्य न हिंसा से सधते है और न अहिंसा से। कुछ काम हिंसा से हो सकते है और कुछ काम अहिंसा से। ये दोनो दृष्टिकोण सामने रहे तो मनुष्य का चिन्तन एकागी नही बनता और वह हिंसा को ही कार्य-सिद्धि का एकमात्र साधन नही मानता।

हिंसा, दबाव व विरोध के द्वारा समस्या सुलझाने का प्रशिक्षण समूचे व्यवहार से प्राप्त होता है। किन्तु अहिंसा व सापेक्ष दृष्टिकोण से समस्या के समाधान का

प्रशिक्षण नही मिलता। इसलिए यदि विद्यार्थी अपनी समस्या सुलझाने के लिए हिंसा का सहारा लेते है तो यह दोष किसका है? कम-से-कम विद्यार्थियो का नहीं है। वे उसी शस्त्र का उपयोग करते है, जो उन्हे परम्परा से प्राप्त होता है। अहिंसा का अस्त्र उन्हे प्राप्त ही नही है, फिर वे उसका उपयोग कैसे करेगे?

इस दोष की भागी है पुरानी पीढी—अभिभावक और शिक्षक या शिक्षा-व्यवस्था के सूत्रधार। हमारे शिक्षाशास्त्री क्या यह अनुभव नही करते कि शरीरशास्त्र, मानसशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की भाति अहिंसा भी विद्या की एक शाखा है। उसका अध्ययन उक्त विद्या-शाखाओ से कम आवश्यक नही है। वह केवल धार्मिक सिद्धान्त ही नही है, वह जीवन-व्यवहार की सफलता का सर्वश्रेष्ठ सूत्र है। पारिवारिक जीवन, पडोसी जीवन, सामाजिक जीवन, व्यवसाय और पारस्परिक सम्पर्क—इन सभी क्षेत्रो मे अहिंसा के प्रयोग किये जा सकते है। आप गाली देकर जो बात नही मनवा सकते, वह प्रेम देकर मनवा सकते है। मै इस यात्रा के दौरान महरौली आश्रम मे गया था। वहा ईश्वरभाई देसाई मिले। वे मानसिक चिकित्सा करते है। हजारो पागलो की उन्होने चिकित्सा की है। बडे-से-बड़े पागल को भी उन्होने साकल से नही बाधा। वे उस चिकित्सा मे प्रेम का प्रयोग करते है। इस प्रयोग मे वे बहुत सफल हुए है। अहिंसा के मूल्य के विषय मे हमारा ज्ञान बहुत अल्प है। यह कहकर भी मै अत्युक्ति नही कर रहा हू कि नही जैसा है। इसीलिए हर छोटी समस्या को भी हम बहुत बडा रूप दे देते है। जो गाठ को खोलना नही जानता, उसके हाथ मे जाकर वह और घुल जाती है।

अहिंसा के अध्ययन को मै समाजशास्त्रीय अध्ययन का अनिवार्य अग मानता हू। कोई आदमी सामाजिक तो है, किन्तु अहिंसा से अभिज्ञ नही है, यह ठीक वैसे ही है, जैसे कोई आदमी जीवित तो है किन्तु प्राण से अभिज्ञ नही है। अहिंसा सामाजिक जीवन की प्राण-प्रतिष्ठा है। उसे समझे बिना कोई व्यक्ति दूसरो के साथ सत्-व्यवहार नही कर सकता। दूसरो के साथ असत्-व्यवहार कर वह उनसे सत्-व्यवहार की आशा नही रख सकता। अहिंसा प्रवृत्ति के असत् अश का शोधन करती है, इसलिए हर प्रवृत्ति के साथ उसका अनिवार्य सम्बन्ध है। विद्यार्थी-समस्या का स्थायी समाधान अहिंसा की शिक्षा और उसके सक्रिय प्रयोग से बढकर कोई है, ऐसा मुझे प्रतिभासित नही होता।

हिंसा के अनेक रूप है। कुछ रूप वर्तमान मे अप्रिय लगते है, किन्तु परिणामकाल मे प्रिय लगते है। कुछ वर्तमान मे प्रिय लगते है, किन्तु परिणामकाल मे अप्रिय लगते है। दक्षिण भारत मे शैवो ने जैनो को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया, तब उन्हे वह कार्य बहुत प्रिय लगा। किन्तु जब मुसलमानो ने शैवो को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया, तब उन्हे वह

प्रिय नही लगा । हिंसा की परम्परा का एक वार सूत्रपात हो जाता है
वह दीर्घकाल तक चलता रहता है। कभी-कभी हिंसा का प्रवाह सुरंग होकर
भूमिगत हो जाता है। ईसाई प्रचारको द्वारा जो धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया चल
रही है, उसका माध्यम सेवा है । उसमे हिंसा का रूप दृश्य नही है। किन्तु सेवा
का परिणाम धर्म-परिवर्तन आये, उसका आतरिक रूप सेवा कैसे हो सकता है?
ईसाई प्रचारकों द्वारा किया जाने वाला कार्य हिन्दुओ को प्रिय नही लग रहा है।
किन्तु इस अप्रियता का मूल हिंसा की प्राथमिक प्रियता मे छिपा हुआ है।

वर्तमान की शासन-पद्धतिया नियत्रण की दिशा मे आगे बढ रही है।
वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सीमा सिमटती जा रही है। क्या सुविधा स्वतन्त्रता से
अधिक मूल्यवान है ? नही है। फिर ऐसा क्यो हो रहा है? सुविधा देकर
स्वतन्त्रता क्यो छीनी जा रही है ? मेरी दृष्टि मे यह हिंसा की प्रतिक्रिया है।
वैयक्तिक स्वार्थ की पूर्ति बहुत प्रिय लगती है। वह जैसे-जैसे बढती है, वैसे वैसे
नियन्त्रण को निमन्त्रण मिलता जाता है। बहुत लोग समाजवादी व साम्यवादी
व्यवस्था से घबराते है। उनमे वैयक्तिक इच्छा पर काफी अकुश रहता है। इसलिए
उनसे घबराते है । क्या इन व्यवस्थाओ का जन्म निरकुश स्वार्थ-पूर्ति के कारण
नहीं हुआ है? यदि बौद्धिक लोगो द्वारा मन्दमति लोगो के स्वार्थों का हनन नहीं
होता तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर कोई आच नही आती। दूसरो के स्वार्थों के
हनन का बदला अपने स्वार्थों की हत्या कर चुकाना पडेगा, यह कल्पना उन लोगो
को नही थी, जो ईश्वरीय सत्ता का आशीर्वाद लेकर गरीबो पर शासन करने के
लिए ही इस धरती पर पैदा हुए थे।

भगवान् महावीर अहिंसा के सर्वाधिक प्रभावशाली व्याख्याता थे। उन्होंने
कहा था—'जितने दु ख है, वे सब हिंसा से उत्पन्न है।' इस अनुभूति के सन्दर्भ मे
वर्तमान समस्याओ की आत्मा प्रस्फुट होती है और वर्तमान समस्याओ के सन्दर्भ
मे उस अनुभूति की आत्मा प्रस्फुट होती है।

लोकतन्त्र और अहिंसा

'दिन है और अधकार है'—इस उक्ति मे जितना अन्तर्विरोध है, उतना ही अन्तर्विरोध इस स्थिति मे है कि लोकतत्र है और हिसा की प्रबलता है। लोकतत्र के प्रासाद का आधारस्तम्भ अभय है। जहा जनता के मन मे भय है, वहा लोकतत्र की नीव ही नही पडी है। भय का जन्म तानाशाही मे होता है, क्योकि वहा विपमता होती है। विषमता मे स्वतत्रता और सहानुभूति कुठित हो जाती है।

लोकतत्र को जीवित रखते है—अभय, समानता, स्वतत्रता और सहानुभूति। हिन्दुस्तानी लोग आत्मालोचन करे—क्या उनके जीवन मे ये तत्त्व है? यदि है तो वे लोकतत्र के नागरिक है और यदि नही है तो क्या सही अर्थ मे हिन्दुस्तान लोकतत्रीय देश है?

मुझे लगता है अभी हिन्दुस्तानी लोगो ने लोकतत्र को बौद्धिक मान्यता दी है। उसके साथ उनका तादात्म्य नही हुआ है। मै इसे आरोपण कहता हू। सिर पर आरोपित घडे का भार अनुभव होता है। समुद्र मे तैरने वाले का उसके साथ तादात्म्य हो जाता है। इसलिए अपार जलराशि के नीचे जाने पर भी उसे भारानुभूति नही होती। पतले-से वृन्त बडे-बडे फलो को धारण कर लेते है। तादात्म्य के अभाव मे वे वैसा नही कर सकते।

हर देश मे कुछ लोग प्रबुद्ध होते है। देश के सचालन का दायित्व भी उन पर होता है। वे जिस शासन-प्रणाली को पसद करते है, वही प्रवृत्त हो जाती है। हिन्दुस्तान के नेता लोकतत्र को पसन्द करते थे। इसलिए हिन्दुस्तान लोकतत्रीय देश बन गया। यह लोकतत्रीयता नेताओ की पसन्द का परिणाम है, जनता की तादात्म्यानुभूति का परिणाम नही है। स्वतत्रता के प्रारम्भिक दिनो मे जनता जवाहरलाल जैसे नेताओ के प्रति तादात्म्यानुभव करती थी और उनकी लोकतत्र के प्रति तादात्म्यानुभूति थी। इसलिए प्रत्यक्षत न सही, परोक्षत लोकतत्र के साथ जनता की तादात्म्यानुभूति जुड जाती है। अब कोई वैसा शक्तिशाली और प्रिय नेता नही है, जिससे जनता की तादात्म्यानुभूति हो और नेतृ-वर्ग ने जनता की

लोकतत्र से तादात्म्य करने की चेष्टा नही की। इसलिए आज हिंसा [illegible] तोड़-फोड और गोलीकाण्ड की पुनरावृत्तिया हो रही है।

राजतत्र का मान्य सूत्र था—'राजा कालस्य कारणम्'—'समय की [illegible] और वुराई राजा के अधीन है। राजा की नीति अच्छी है तो समय [illegible] राजा की नीति वुरी है तो समय वुरा है। एक राजा वेश-परिवर्तन कर [illegible] था। वह एक ईख के खेत मे जा पहुचा। वुढिया ने उसका सत्कार किया। [illegible] ने कुछ इधर-उधर की वाते कर ईख का रस पीने की इच्छा प्रकट की। [illegible] ने एक ईख पेरा और प्याला भर दिया। राजा ने प्याला पी लिया और [illegible] मन सोचा, 'ईख बहुत मीठा है, इस पर कर कम है। आज मै जाकर कर [illegible] दूगा।' राजा ने एक प्याला और मागा। वुढिया ने एक ईख पेरा, पर [illegible] नही भरा। राजा ने पूछा, 'वुढिया! प्याला क्यो नही भरा?' वुढिया बोली—'भाई! राजा की नीयत खराव हो गयी है इसलिए प्याला नही भरा।' इस [illegible] का राजा के मन पर भारी असर हुआ। उसने कर कम करने की वात सोची और एक प्याला और मागा। वुढिया ने ईख पेरना शुरू किया तो पौन ईख से ही प्याला भर गया। राजा ने विस्मय के साथ पूछा—'वुढिया! प्याला पौन ईख मे कैसे भरा?' वुढिया ने कहा—'भाई! मेरे देश के राजा की नीयत पहले से भी [illegible] हो गयी है।' राजा आश्चर्यचकित हो लौट चला। क्या आज के लोकतत्र के शासक भी काल का कारण है? क्या उसकी अच्छी और वुरी नीति का प्रकृति पर असर होता है? मै इस प्रश्न का निर्णय क्या दू? इस विषय मे इतना ही [illegible] कि जिस दिन 'नेता कालस्य कारणम्'—इस सूत्र की जनता द्वारा पुष्टि होगी, उसी दिन लोकतत्र चमकेगा। 'यथा राजा तथा प्रजा'—यह सूत्र भी बहुत [illegible] रहा है। गीता भी इस तथ्य की पुष्टि करती है—'**यद् यदाचरते श्रेष्ठः** **लोकस्तदनुवर्तते**'—श्रेष्ठ मनुष्य जो आचरण करता है, उसी का जनता अनुसरण करती है। क्या यह सूत्र नेतृवर्ग को चुनौती नही है? सयम, शालीनता, धैर्य, सतुलन, सादगी और शिष्टता से दूर रहकर क्या शासक लोग जनता मे [illegible] गुणो की अपेक्षा रख सकते है? एक पूजीपति मे सतोष के उपदेश का [illegible] साहस नही हो सकता। विधानसभाओ मे लडने वाले विधायक जनता को अनुशासन का पाठ नही दे सकते। जो आदमी जितना मुखिया होता, वह उतना ही अधिक संयमी होता—यह जीवन का प्राचीन मूल्य है। किन्तु क्या प्राचीन होने मात्र से इसकी प्रयोजनीयता समाप्त हो गयी? नही हुई। यह आज भी उतना ही प्रयोजनीय है, जितना हजार वर्ष पहले था।

राजतंत्र मे अहिंसा के विकास की कम सभावनाए थी। फिर भी उसमें अच्छे तत्त्व विकसित हुए थे। लोकतत्र मे अहिंसा के विकास की [illegible]

सभावनाए होती हैं। यदि लोकतत्र मे भी अच्छाइयो का विकास न हो तो इससे अधिक आश्चर्य की बात क्या होगी ! क्या प्रस्तुत अभाव को भरने के लिए अहिंसा के प्रशिक्षण की बात सोची जाएगी ? क्या धर्म-सत्ता और राज्य-सत्ता का इस विषय मे सक्रिय योगदान होगा ? क्या विश्वविद्यालय अहिंसा के प्रशिक्षण को एक शाखा के रूप मे स्वीकृत करेंगे ?

स्वतंत्रता का मूल्य

स्वतत्रता शाश्वत सत्य है। हर युग मे मनुष्य ने उसके लिए संघर्ष किया [illegible] आज भी कर रहा है। किन्तु परतत्रता की पकड आज भी ढीली नही हुई। स्वतंत्रता की इतनी अदम्य चाह होने पर भी परतत्रता से मुक्ति नही [illegible] इसका रहस्य क्या है? यह जिज्ञासा वार-वार मन मे उभरती है। गहरे मनो[illegible] के वाद आत्मानुभूति के विरल क्षण मे मुझे इसका उत्तर मिला कि मनुष्य दूसरो को स्वतत्रता दिये विना अपनी स्वतत्रता चाहता है। यही परतत्रता की [illegible] है। स्वतत्रता की चाह होने पर भी उसकी प्रक्रिया त्रुटिपूर्ण है तो वह कैसे [illegible] होगी?

स्वतत्रता की चाह उसी व्यक्ति की सच्ची हो सकती है जो दूसरो [illegible] स्वतत्रता मे वाधा नही डालता। यह अहिंसा का मार्ग है। परतत्रता [illegible] का ही दूसरा नाम है। जितनी हिंसा वढती है, उतनी ही परतत्रता [illegible] है। मनुष्य को हिंसा प्रिय है, इसका फलितार्थ है कि उसे परतत्रता प्रिय है। क्या ऐसा कोई आदमी है जो हिंसा का वीज वोकर परतत्रता की [illegible] काटता?

आदमी आदमी से घृणा करता है, यह हिंसा का पहला चरण है। आदमी आदमी को नीच मानता है, यह हिंसा का दूसरा चरण है। घृणा करने [illegible] आदमी सामने वाले व्यक्ति के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार करता तो वह [illegible] घृणा नही करता। मिस्र के विदेशमंत्री ने यह स्वीकार किया कि [illegible] सार्वभौम सत्ता को अस्वीकार करना एक भूल थी। यदि यह सचाई [illegible] ही प्रकट हो जाती तो सभवत युद्ध नही हुआ होता। युद्ध क्यो होता [illegible] लगता है कि दूसरा देश उसकी स्वतंत्रता को अस्वीकार कर रहा है, [illegible] का विगुल वज उठता है।

मनुष्य ने सामाजिक जीवन की पद्धति स्वीकार की, इसका अर्थ है [illegible] परतत्रता के साथ समझौता किया है। यदि वह असामाजिक होता तो [illegible]

स्वतत्र होता। सामाजिक आदमी सापेक्ष-स्वतत्रता को ही पसन्द कर सकता है। वह अपनी स्वतत्रता का उसी सीमा मे प्रयोग कर सकता है, जिससे दूसरो की स्वतत्रता मे कोई विघ्न न हो। परतत्रता अपनी वृत्तियो मे भी पलती है। श्रम करने वाला आदमी रोटी के मामले मे स्वतत्र हो जाता है। जिनमे श्रम को हेय मानने की मनोवृत्ति है, वे दूसरो के मोहताज रहते है। हिन्दुस्तान मे बडप्पन की कसौटी है श्रम नही करना। श्रम करने वाला छोटा माना जाता है। क्या विलास पराधीनता नही है ?

मै उस स्वतत्रता को कोई मूल्य नही देता, जिसमे उसके पोषक तत्त्व कम हो। मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान स्वतत्र होने के बाद भी स्वतत्रता का मूल्य आकने मे बहुत सफल नही हुआ है। इसका मूल कारण है हिन्दुस्तानी आत्मा को न पहचानना। हिन्दुस्तान की आत्मा है त्याग, त्याग और त्याग।

इन्द्रिय-विजय, त्याग और स्वावलम्बन का केवल धार्मिक मूल्य ही नही है, इनका सामाजिक मूल्य भी बहुत स्पष्ट है। अपना स्वार्थ साधना, अपने स्वार्थ का सग्रह करना उसकी आत्मा का हनन है। जहा जातीय, साम्प्रदायिक, दलीय और भाषायी हित प्रधान बन जाते है, वहा व्यापक एकता विघटित होने लग जाती है। उसका परिणाम होता है, स्वतत्रता का विघटन। जनतत्र मे प्रत्येक जाति को अपने विकास का पूर्ण अधिकार है। किन्तु उसका उपयोग अहिंसा की मर्यादा को ध्यान मे रखकर किया जाना चाहिए। दूसरी जातियो को आघात पहुचाये बिना किया जाने वाला विकास अहिंसा की मर्यादा का अतिक्रमण नही करता, इसलिए वह स्थायी होता है। साम्प्रदायिक और दलीय आधार पर दूसरो पर निम्न स्तर के आरोप लगाये जाते है, वह प्रतिहिंसा को जन्म देने वाली हिंसा है।

धर्म के क्षेत्र मे ऐसा किया जाता है, वह सबसे बडा अधर्म है। धर्म की हत्या अधर्म से नही होती, किन्तु उसकी हत्या उसके उन उपासको से होती है, जो अपने सम्प्रदाय के हितो के लिए दूसरे सम्प्रदायो के हितो को कुचलने का यत्न करते है। क्या राजनीतिक दल दूसरो के लिए काटे बिखेर अपने पैरो को सुरक्षित रख सकते है ? अवाछनीय परम्परा का सूत्रपात करने वाले इस तथ्य को न भुलाए कि एक दिन उसका परिणाम उन्हे भी भुगतना होगा। अपनी मातृभाषा का पर्याप्त विकास किया जा सकता है किन्तु दूसरो के साथ होने वाले सम्पर्क-सूत्र को काटकर अपने हितो की सुरक्षा नही की जा सकती। बहुत बार ऐसा होता है कि तात्कालिक हितो की साधना मे दीर्घकालीन हित भुला दिये जाते है।

त्याग, शालीनता और उदारता भारतीय जीवन के महत्त्वपूर्ण अग रहे है।

दूसरो के लिए अपने स्वार्थों का बलिदान करना, प्रवृत्तियो के स्तर को [illegible] बनाए रखना और दूसरो के साथ एकता स्थापित करना स्वतन्त्रता के मूल्यों [illegible] प्रतिष्ठापित करना है। इन मूल्यो को प्रतिष्ठापित करने वाले स्वतन्त्र [illegible] परतंत्रता की पकड से मुक्त करते हैं और अपने स्वार्थों की पूजा करने वाले [illegible] भाग्य परतंत्रता के हाथो मे सौप देते हैं।

गांधी एक : कसौटियां अनेक

कितना सुन्दर स्थान और सुप्रभात है। सामने नदी और वृक्ष है। सभी प्राकृतिक चीजे है। इस प्राकृतिक दृश्य को देखकर प्रकृति ने भी स्वागत किया। बादलो का वितान बनाकर धूप मे बैठने वालो की रक्षा की। गाधी-जयन्ती को आज का दिन सहज मिल गया। इससे लगता है कि गाधीजी के जीवन मे प्रकृति रमी हुई थी। उनके जीवन से राष्ट्र की जनता को और बहुत सारे साधुओ को भी शिक्षा लेनी चाहिए। सन्तो और महन्तो को भी महात्माजी के जीवन से सादगी की प्रेरणा लेनी चाहिए।

गाधीजी का जन्मदिन अनेक स्थानो पर मनाया जाता है। यह स्वाभाविक भी है क्योकि इतना शीघ्र ही उनका जन्मदिन मनाना लोग थोडे ही भूल जाएगे, दर्द की बात यह है कि लोग गाधीजी के दिन को मनाना नही भूले किन्तु उनके जीवन को भूल गए। मैं देख रहा हू कि जिन्होने गाधीजी के साथ तपस्या की, उनकी आखो मे आसू है। जिन्होने उनके साथ तपस्या नही की और सम्पत्ति, सत्ता और अधिकार जिनके हाथ मे है, उनकी आखो मे हर्ष है। मै ऐसे अनेक व्यक्तियो से मिलता हू जिनके जीवन मे गाधीजी के सस्कार है, उनके हमारे विचारो का तार जुड जाता है।

ढेबर भाई गाधीजी के साथ रहे थे। उनसे मेरी बात हुई। मैने कहा—'आप जैसे व्यक्ति जब तक है तब तक लगता है गाधीजी के साथ वाले व्यक्ति है। जनता भी इससे आश्वस्त और विश्वस्त है, किन्तु भावी पीढी को तैयार किया या नही ?' ढेबर भाई बोले—'आपका कहना सच है। हम कर नही पाए, आप इसके लिए कोई मार्ग सुझाए।'

राजेन्द्र बाबू आदि से जब मिलन होता तो उनके जीवन मे गाधीजी के दर्शन परिलक्षित होते थे। आज अनेक व्यक्ति ऐसे है जो सफेद टोपी पहनते हैं, खादी के वस्त्र पहनते है, चर्खा भी रखते है और ग्यारह व्रत भी स्वीकार करते है, किंतु ये सब ऊपर की बाते रह गई है। ऐसा देखकर दिल मे पीडा होती है। केवल

पीड़ा की अभिव्यक्ति निकम्मी होती है। कोई भी व्यक्ति आसानी से कह देता है कि भारत का पतन हो गया। मैं मन मे सोचता हू कि ऐसे कहने मात्र से क्या होगा। हमे तो इसका समाधान और इलाज खोजना है। वह किसके पास है? जब समाधान की बात आती है तो लोग कहेगे कि हम अकेले क्या कर सकते हैं? मैं पूछता हू कि क्या गाधीजी प्रारम्भ मे अकेले नही थे? यह प्रश्न भी व्यर्थ है। एक-एक बूद से घडा भरता है। एक-एक मिनट से घटा बनता है। उसी प्रकार कामभी एक-एक आदमी के करने से होता है। प्रत्येक व्यक्ति मे यह आत्मविश्वास होना चाहिए कि मैं काम कर सकता हू और जितना कर सकता हू उतना करूगा।

सूर्य अस्त होने पर दीपक और चिराग सारी रात प्रकाश करते हैं। यदि सब सोचने लगे कि हम क्या कर सकते है तो क्या प्रकाश हो सकता है? कवि टैगोर ने लिखा है कि सूर्य अस्ताचल पर जाकर बोला—'मैं जा रहा हू, मेरे जाने के बाद अन्धकार को दूर करने का भार कौन लेगा?' सूर्य के प्रश्न पर चाद, तारे और नक्षत्र सब मौन हो गए। एक छोटा-सा दीपक खडा हुआ और बोला—'मुझमे जितनी शक्ति है उतना प्रकाश अवश्य करूगा।' सूर्य आश्वस्त होकर चला गया।

एक दीपक की तरह यदि हजारो दीपक जल उठें तो क्या शहर जगमगा नही उठे? उसी प्रकार केवल पीडा की अभिव्यक्ति की बात छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना है कि मैं अपनी क्षमता का उपयोग करूगा, उसका अपहनन नही करूंगा। अपहनन पाप माना गया है क्योकि उसमे छिपाकर रखने की बात आ जाती है।

गाधीजी के जाने के बाद राष्ट्र-नेताओ मे जितनी शक्ति थी उस पर मानो किसी ने इन्द्रजाल फैला दिया है, वह लुप्त हो गई।

एक तपस्वी तपोवन मे तपस्या कर रहे थे। उनकी तपस्या के प्रभाव से इन्द्र का आसन भी डोलने लगा। इन्द्र ने सोचा—'यह तपस्वी और अधिक तपस्या करेगा, तो मेरा आसन छीन लेगा, अतः कोई चक्र चलाना चाहिए।'

एक पथिक का रूप बनाकर इन्द्र नीचे आया। उसके हाथ मे तलवार थी। तपस्वी के पास जाकर वह बोला—'स्वामिन! मैं शहर मे जा रहा हू। वहा तलवार लेकर जाना ठीक नही है। आप कृपालु हैं। मैं जब तक लौटकर आता हू, इसकी सभाल रखिए।'

तपस्वी ने तलवार अपने पास रख ली। दो घटे बीते, चार घटे बीते, एक दिन, दो दिन। ऐसा करते-करते महीनो बीत गए। पर वह पथिक नही आया। उसे आना भी नही था। इधर तपस्वी अपनी तपस्या को भूल गए और तलवार की सुरक्षा मे लग गए। सुरक्षा की चिन्ता मे तलवार के प्रति मोह उत्पन्न हो

गया। ध्यान, जप, तपस्या सब छूट गए। अब तो वह तलवार ही तपस्वी की तपस्या थी। इन्द्र का आसन डोलना बन्द हो गया। पर जगल के हजारो जानवरो के प्राण डोल उठे। जिस तपस्वी के पास साप और मेढक, शेर और बकरी साथ-साथ रहते थे वे सब तलवार के कारण भयग्रस्त हो गए।

गाधीजी के बाद लगभग यही स्थिति हो गई, मानो किसी ने तलवार रख दी हो। वह तलवार सत्ता, सम्पत्ति या विलास की है। उसके कारण सारे नेता जो एक प्रकार की तपस्या मे रत थे, उसे भूल गए। सन्यासी ने अपना वेश नही छोडा। 'ओऽम्' का उच्चारण भी करता रहा। किन्तु ध्यान उस तलवार मे ही रहा। गाधीजी के अनुयायी भी उनके आश्रम मे आते है, प्रार्थना करते है, पर उनका ध्यान कुर्सी मे रहता है कि आगामी चुनाव मे हमारी कुर्सी सलामत है या नही ?

आज के दिन के उपलक्ष्य मे चिन्तन करना है कि गाधीजी क्या चाहते थे और उनके विचार क्या थे। गाधीजी सम्प्रदायवाद के पक्ष मे नही थे। उनकी प्रार्थना-सभा मे हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि सब उपस्थित होते थे। किन्तु आज गाधीजी के भक्तो मे जितनी साम्प्रदायिक कट्टरता है, उतनी कट्टरता सभवत धर्म-सम्प्रदायो मे भी नही है। एक सर्वोदयी नेता से मैंने कहा था—'हमने साम्प्रदायिकता को अच्छा नही मानकर छोडा, किन्तु आश्चर्य होता है कि साम्प्रदायिकता को न मानने वालो ने उसे अपना लिया। मै एक सम्प्रदाय का आचार्य हू। सम्प्रदाय की वेशभूषा और परिधि को स्वीकार करके चलता हू, फिर भी साम्प्रदायिकता मुझे नही सुहाती। साम्प्रदायिकता का अर्थ है—अपने सम्प्रदाय को बढाने के लिए दूसरे सम्प्रदाय पर आक्षेप करना तथा उसे बुरा बताना। किसी पर आक्षेप करने को मैं कट्टरता और गलती मानता हू।'

गाधीजी को उपदेश से अधिक क्रिया मे विश्वास था। कल मै एक पुस्तक पढ रहा था, उसमे गाधीजी ने लिखा है—'मेरे मरने के बाद मेरे समग्र साहित्य को जला दिया जाये। इससे जो करना है वही अवशेष रहेगा।' आज की स्थिति भिन्न है। आज करे चाहे कुछ भी नही किन्तु बोलने मे चतुर है। कहने की अपेक्षा करने का ही सीधा असर जनता पर होता है।

जिसके जीवन मे कथनी-करनी की समानता हो क्या उसका असर दूसरो पर नही पड़ेगा ? वजरभूमि मे बीज नही उगते है, तो बीज की कमी है या बोनेवाले की कमी है ? जहा दोनो की पूर्णता होती है वहा फल क्यो नही मिलेगा ? गाधीजी जैसा कहते थे वैसा ही करते थे इसलिए उनका सहज प्रभाव होता था। सक्षेप मे कहे तो गाधीजी एक आदर्श धार्मिक थे।

उनके जीवन मे एक बात सबसे बडी यह थी कि उन्होने साध्य और साधन की एकता पर बल दिया था। उनका कहना था—'यदि हमारा साध्य पवित्र है,

तो उसके लिए साधन भी पवित्र होना चाहिए। अशुद्ध साधन से प्राप्त [illegible] स्थायी नहीं होता।' यह सिद्धान्त उनकी नस-नस मे रमा हुआ था। [illegible] स्वराज्य को उन्होने हिंसा से स्वीकार नही किया। उन्होंने कहा—'[illegible] स्वराज्य सौ वर्ष बाद भी मिले तो मैं उसे पसन्द करूगा।' साध्य-साधन की एकता के सम्बन्ध मे उनका चिन्तन अनेक धर्माचार्यों से टकराता था। [illegible] आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी के चिन्तन मे इस दृष्टि से समानता थी।

गाधीजी ने अपने जीवन मे अहिंसा के विविध प्रयोग किए थे। वे [illegible] वैज्ञानिक थे। उनका जीवन प्रयोगशाला था, उनका प्रारम्भिक तथा [illegible] साहित्य देखने से यह तथ्य भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। बडे जीव की [illegible] के लिऐ छोटे जीव को मारने में वे पाप बताते थे। खेतो को हानि पहुचाने [illegible] बन्दर, हिरण तथा अन्य जहरीले जानवरो को मारने मे वे पाप मानते थे। [illegible] आवश्यकतावश उन्होंने जीवो को मारने की स्वीकृति भी दी पर उसे शुद्ध अहिंसा कभी नही माना।

मैंने गांधीजी के ग्यारह व्रत पढ़े। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि की कितनी सुन्दर व्याख्या की है। उन्होने कहा कि जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक रखना परिग्रह है। यदि दरी से काम चल जाए तो कुर्सी रखना परिग्रह है। लगता है कि कोई जैन ऋषि अपरिग्रह का विवेचन कर रहा है।

छुआछूत के बारे मे भी गाधीजी ने तीव्र प्रहार किया था। किन्तु खेद है कि आज की अस्पृश्यता की समस्या का समाधान नही मिल रहा है।

गांधीजी के विचार युग के विचार थे किन्तु प्रश्न यह है कि उनके अनुयायी कहां तक उन्हे प्रश्रय देते हैं ? मैं किसी पर व्यग्य नही करता किन्तु इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि एक महापुरुष के विचार नदी के पूर की तरह बह न जाए। उन्हे पकडकर रखे। इससे विकास का पथ प्रशस्त होगा। अन्त मे मेरा अनुरोध है कि सब औरो को सुधारने के साथ स्वय को सुधारने का प्रयास करें। उसी लिए आपके सामने अणुव्रत प्रस्तुत है। आप इसे स्वीकार करें। तभी इस प्रकार के दिन मनाना सफल हो सकते हैं।

उपवास और महात्मा गांधी

मनुष्य शरीरधारी प्राणी है। शरीर भोजन के आधार पर चलता है। इस दुनिया का कोई भी आदमी खाये बिना जीवित नही रह सकता। फिर भी खाने के विषय मे सब आदमी समान नही होते। कुछ लोग भोजन के अधीन होते है और कुछ लोग उसकी अधीनता स्वीकार नही करते। उसकी अधीनता की अस्वीकृति ने उपवास को जन्म दिया।

मनुष्य प्रतिदिन खाता है। कोई दिन मे दो बार, कोई अधिक बार और कोई एक बार। दिन भर न खाना—यह स्वाभाविक नही है। यह या तो अभाव मे होता है या अरुचिवश या संकल्पवश।

अभाव या अरुचि के कारण भोजन नही करने का नाम लघन है। सकल्पवश भोजन नही करना भी लघन कहलाता है, यदि उस सकल्प की पृष्ठभूमि मे दूसरो के प्रति घृणा, द्वेष या विवशता की मनोभावना होती है।

जिसकी पृष्ठभूमि मे अध्यात्म की भावना होती है, आत्मशोधन या प्रायश्चित्त का मनोभाव होता है और सकल्पपूर्वक भोजन नही किया जाता, वह उपवास है।

मूल्य

भारतीय धर्मों मे उपवास का बहुत मूल्य रहा है। देहाध्यास को छोडना धर्म का मुख्य प्रयोजन है। उपवास देहाध्यास के विसर्जन की एक साधना है। ममत्व का मूल आधार देह है। जो दैहिक ममत्व को विसर्जित कर देता है, वह सबके प्रति अनासक्त हो सकता है। उपवास का स्वयभू मूल्य है—अनासक्ति, इन्द्रिय-विजय, मानसिक शक्ति और धैर्य। हिन्दुस्तान मे करोडो लोग उपवास के द्वारा आध्यात्मिक लाभ उठाते रहे। बौद्ध धर्म ने उपवास को मान्यता नही दी। वैदिक और जैन धर्म ने उसके विविध प्रयोग किए है।

राजनीति के क्षेत्र में

महात्मा गांधी से पूर्व उपवास का प्रयोग वैयक्तिक शुद्धि के लिए होता था। उन्होने उपवास का प्रयोग अपनी शुद्धि द्वारा दूसरो का हृदय-परिवर्तन करने के लिए किया। प्राचीन काल मे ऐसा नही होता था, यह बात नही है। सुदर्शन सेठ ने अर्जुनमाली का हृदय-परिवर्तन करने के लिए आजीवन अनशन किया था। आरोपों की शुद्धि के लिए भी उपवास करने के उदाहरण मिलते है। किन्तु गाधीजी ने दूसरों के हृदय बदलने के लिए उपवासो की एक शृंखला प्रस्तुत की, वह अपने आप मे नया प्रयोग था।

गांधीजी आध्यात्मिक व्यक्ति थे। उनका कार्य सभी क्षेत्रो मे चलता था। किन्तु मुख्य कार्यक्षेत्र था—राजनीति। महात्मा गाधी ने राजनीति के क्षेत्र उपवास का प्रयोग कर उपवास के इतिहास मे एक नया परिच्छेद जोड दिया उनके इस कार्य को उनके राजनीतिक साथी भी पूर्णत समझ नही पा रहे थे महात्मा गांधी ने लिखा है—'अगर राजनीतिज्ञो को राजनीतिक मामलो में इसकी उपयोगिता दिखाई नही देती, तो इसका कारण यह है कि इस बहुत बढ़िया हथियार का यह अनोखा प्रयोग है।'[1]

दुरुपयोग

दुनिया मे ऐसी कोई भी शक्ति नही है, जिसका केवल सदुपयोग ही हो, दुरुपयोग न हो। शक्ति केवल शक्ति है। उसके सदुपयोग और दुरुपयोग का प्रश्न उस व्यक्ति पर निर्भर है, जिसे शक्ति प्राप्त होती है। अणु का उपयोग विध्वंसक अस्त्रो के निर्माण में भी हो रहा है और कल्याणकारी कार्यों मे भी हो रहा है। उपवास बहुत बडी शक्ति है। गाधीजी ने उसका उपयोग अहिंसक अस्त्र के रूप में किया था। वे उपवास को अहिंसा से भिन्न नही मानते थे। वर्तमान मे उसका उपयोग बल-प्रयोग के रूप मे होने लगा है। इन वर्षों मे ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई है, अनेक बार ऐसे उपवास किए गए हैं, जिन्हे उपवास की अपेक्षा बल प्रयोग कहना ही अधिक संगत होगा। गांधीजी स्वय इस खतरे मे अभिज्ञ थे। उन्होने लिखा है—'आमरण अनशन सत्याग्रह के कार्यक्रम का अभिन्न अंग है और खास परिस्थितियो मे वही सत्याग्रह के शस्त्रागार का सबसे बड़ा और रामबाण शस्त्र है। लेकिन अच्छी तरह तालीम पाए बिना हर कोई इसका प्रयोग करने योग्य नही होता।'[2]

पंडित नेहरू ने भी इस खतरे की ओर उन्हे सतर्क किया था।

---

१. गाधीजी : सर्वोदय, पृ० १०३

२ वही, पृ० १०२

गाधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए उपवास किया, उस प्रसग मे पडित नेहरू ने तार द्वारा यह संवाद भेजा था—'अखबारो से समाचार मिला था। आश्चर्य भी हुआ और क्षोभ भी। फिर मेरा आशावाद सामने आया और मन को शान्ति मिली। समझ गया कि अति दलितो के उद्धार के लिए जितना त्याग किया जाए, उतना ही थोडा है। क्योकि इन लोगो के स्वराज्य के बिना हमारा स्वराज निरर्थक है। उपवास का धार्मिक रहस्य मैं नही समझता। कुछ लोग इसका दुरुपयोग भी करेगे। मगर मैं आप जैसे जादूगर को क्या सलाह दू ?'[1]

जमशेद मेहता ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न गाधीजी के सामने रखा था। उन्होने लिखा था—'प्रायोपवेशन किसे करना चाहिए, कब करना चाहिए, वगैरह बातो पर आप कुछ नियम तय कर दे, तो ठीक हो।' उन्हे लिखा—'ईश्वर के नाम का कितना दुरुपयोग होता है, यह सोच लीजिए। जब वह इस दुरुपयोग को सह लेता है तो फिर महान् शक्तियो का उपयोग करने मे उनका दुरुपयोग भी हो जाए, तो यह सहने लायक है। फिर भी जैसा आप कहते है, उसे रोकने के लिए भरसक कोशिश करनी ही चाहिए। वह करने मे मै नही चूकूगा।'[2]

किन्तु गाधीजी उपवास करने की कोई आचार-सहिता तय नही कर पाए।

दुरुपयोग की संभावना से शक्ति के सदुपयोग का सर्वत्र निषेध नही किया जा सकता। यही सिद्धान्त गाधीजी के उपवास का प्रेरक रहा है।

मर्यादा

उपवास अहिसात्मक प्रयोग है। अहिसा की यह प्रक्रिया है कि अपनी सत्प्रवृत्ति के द्वारा दूसरो की सत्-प्रवृत्ति को जगाया जाए। महात्मा गाधी ने उपवास को इसी मर्यादा मे मान्यता दी थी। उन्होने इसी प्रकार का अभिमत प्रकट किया था—'परोपकार के अपने रचनात्मक अर्थ मे अहिसा सबसे बडी शक्ति है, क्योकि उसमे अन्यायी को कोई शारीरिक या भौतिक हानि पहुचाए या पहुचाने का इरादा रखे विना आत्मपीडन की बेहद गुजाइश रहती है। जिस आत्म-पीडन का लक्ष्य सदा यह रहता है कि उसके द्वारा अन्यायी के उत्तम गुणो को जगाया जाए, आत्म-पीडन से उसके दैवी स्वभाव को जगाया जाता है, जबकि प्रतिशोध उसकी आसुरी वृत्तियो को जगाता है। उचित परिस्थितियो मे उपवास इस प्रकार की उत्तम अपील का काम देता है।[3]

---

१. महादेवभाई की डायरी, भाग २, पृ० ७४
२ वही, पृ० ८६
३. गाधीजी सर्वोदय, पृ० १०२-३।

वैयक्तिक शुद्धि के लिए किया जाने वाला उपवास दबाव से सर्वदा मुक्त होता है किन्तु दूसरो के मत-परिवर्तन के लिए किया जाने वाला पूर्णतः दबाव से मुक्त होता है, यह कहना कठिन है। फिर भी जिसकी दृष्टि आध्यात्मिक होती है, उसका लक्ष्य दबाव डालने का नही होता। माते ने गाधीजी से अनुरोध किया था—'आपको उपवास से दबाव डालने के बजाय शान्त मत-परिवर्तन करना चाहिए। इस मत-परिवर्तन के लिए आपको कम-से-कम एक साल कोशिश करनी चाहिए और वह भी जेल मे बैठकर नही, मगर बाहर निकलकर, मुझे तो सिर्फ अछूतपन का ही काम करना है, यह घोषणा करके आपको छूटना चाहिए।'

गाधीजी ने कहा—'आपकी दलील मैं समझ सकता हू। मेरा उपवास किसी पर भी जबरदस्ती करने के लिए नही, बल्कि ठडे पड गये अन्तरात्मा को जाग्रत करने के लिए है। बदकिस्मती से यह सच है कि कुछ लोगो पर जबरदस्ती हो सकती है। मगर यह बहुत व्यापक नही हो सकती है। धार्मिक सुधारक लोगो के मन पर आधिपत्य जमाने की कोशिश नही करता, वह तो लोगो को जागृत करता है और उन्हे विचार करने और काम करने मे लगा देता है।'[1]

भगवान् महावीर ने उपवास के बारे मे एक नियामक सूत्र दिया था। उसका सूत्र है—'ऐहिक सिद्धि के लिए तपस्या नही करनी चाहिए। पारलौकिक सिद्धि के लिए तपस्या नही करनी चाहिए। पूजा-प्रतिष्ठा के लिए तपस्या नही करनी चाहिए। केवल आत्म-शुद्धि के लिए तपस्या करनी चाहिए।'[2]

आत्म-शुद्धि की भावना नितान्त आध्यात्मिक है। जैन परम्परा मे यह सम्मत है कि लम्बे उपवासों को प्रकट करना नही चाहिए। गाधीजी अपने उपवासो की घोषणा करते थे। उनके उपवास मे अपनी शुद्धि का भाव नही होता, ऐसा कहना मुझे इष्ट नही है। किन्तु अपनी शुद्धि के साथ दूसरो की भावना को जागृत करने का भी होता था। इसलिए वे उसे अपने तक सीमित रखने की स्थिति मे नही रह पाते। देवदास गाधी को उन्होने कहा था—'तू यह आपत्ति कर सकता है कि यह प्रकट करने की क्या जरूरत थी? लेकिन इसकी भी जरूरत है। यह नयी चीज है। प्राचीन प्रणाली मे मैं जो कुछ देखता हू, उसमे सुधार कर रहा हू। इसका अनर्थ भी हो सकता है। मेरा किसी एक आदमी के खिलाफ उपवास करने का हेतु हो तो मैं चुपचाप कर लू। अफ्रीका मे उपवास किये थे, तब उसका ढिढोरा कहा पीटा था? पर अहमदाबाद मे मजदूरो के लिए किए, इसलिए मजदूरो के सामने घोषणा करनी

---

१. महादेवभाई की डायरी, भाग २, पृ० ८६।

२. दशवैकालिक, ६/४।

की जरूरत पडी। इस बार गरीब बेजुबानो के लिए कर रहा हू, इसलिए उनके सामने प्रकट करने की जरूरत है। यह तो मुझमे जो एक साधारण शक्ति है, उसका मैं उपयोग कर रहा हू और दुनिया को बताना चाहता हू कि इस साधारण शक्ति का उपयोग मनुष्यमात्र कर सकता है।'[1]

महात्मा गाधी उपवास का नया मूल्य स्थापित करना चाहते थे। इसलिए उसे सार्वजनिक रूप मे प्रकट करना उनके लिए अनिवार्य था। खुरसेद बहन के साथ हुई बातचीत मे उन्होने यह मत प्रकट किया था— 'हिन्दू धर्म मे तो पग-पग पर उपवास मौजूद है। मेरी मा—मेरी अपढ अज्ञान बहन—जैसे लोगो के जीवन मे उपवास का महत्त्व था। हिन्दुस्तान की स्त्रियो के जीवन मे यह चीज विद्यमान है। लेकिन मेरे-जैसे आदमी उपवास करे तो दुनिया देखे। और मुझे दिखलाना है। उस हद तक मुझे उपवास की घोषणा करनी पडेगी। रामचन्द्र समुद्र के सामने उपवास करते है, तो वह सार्वजनिक रूप मे करते है।'[2]

आध्यात्मिक भावना से शून्य व्यक्ति के आहार-त्याग को सही अर्थ मे उपवास नही कहा जा सकता। वह केवल दूसरो पर दबाव डालने के लिए होता है। उसका उद्देश्य अपनी चित्त-शुद्धि व दूसरो की शुभ भावना जगाने का नही होता। दबाव से आसुरी वृत्तिया जागती है। कोरा दबाव डालने वाले लघन को भूख-हडताल की सज्ञा देनी चाहिए। उसे उपवास की पवित्र कोटि मे रखना उचित नही है। गाधीजी की आध्यात्मिक दृष्टि सधी हुई थी। वे आध्यात्मिकता को अनाज और उससे होने वाली तात्कालिक सफलता को भूसे के रूप मे मानते थे। सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ हुई चर्चा से उनकी मान्यता का स्पष्ट प्रतिविम्ब प्राप्त होता है। उस चर्चा का अश इस प्रकार हैं—'ऐसे उपवास तो किसी भी क्षण किये जा सकते है। ऐसा करने की हिन्दुस्तान मे सामान्य प्रथा है। जब कोई वडा सुधार करना हो, तब मनुष्य इसलिए उपवास करता है कि उस सुधार मे ज्यादा शुद्धि रहे और उसे ज्यादा वेग मिले। उसमे वह अपने को आदेश मिलने का दावा नही करता। ऐसे उपवास दुनिया मे सब कही स्वीकार किये गये है। उपवास खुद ही एक बडी चीज बन जाती है। यही उसका बचाव होता है। मेरे उपवास का दावा इससे ज्यादा नही। मै जिस मथन मे से गुजरा हू, वैसे मथन के बिना भी मैं यह उपवास कर सकता था। पर ऐसा करने की शायद मेरे मे हिम्मत नही थी। मै भारी जिम्मेदारी के बोझ के नीचे दव गया और उससे काप उठा। एक से अधिक बार मुझे इसकी प्रेरणा तो हुई थी कि उपवास करना चाहिए, पर मैं उसका विरोध करता रहा। ऐसी धार्मिक प्रवृत्ति की जीत

---

१ महादेवभाई की डायरी, भाग ३, पृ० २५७-५८।

२. वही, पृ० २६८।

का आधार उसके करने वाले की बौद्धिक शक्ति या दूसरी साधन-सम्पत्ति पर नही होता। उसका आधार केवल आध्यात्मिक सम्पत्ति पर होता है। और आध्यात्मिक सम्पत्ति बढ़ाने का उपवास बहुत प्रसिद्ध उपाय है। हर एक उपवास से सोचे हुए परिणाम नही निकलते, पर अपने वक्तव्य मे मैंने इसकी दलीलें दी हैं। जिन्होंने बड़ी धार्मिक प्रवृत्तियां चलायी हैं, उनका अनुभव यह है कि बौद्धिक, सासारिक और ऐसे दूसरे साधन आध्यात्मिक पूजी मे से मिल जाते हैं। आध्यात्मिक पूंजी ही उनका आधार होती है। आध्यात्मिक पूंजी के बिना वे किसी काम मे नही आते।"[1]

निष्कर्ष

उपवास की प्राचीन भारतीय परम्पराओ तथा महात्मा गांधी के उपवासों का अध्ययन करने पर हर कोई व्यक्ति सहज ही निम्न निष्कर्षों पर पहुंच जाएगा :

१. उपवास देह-दमन नही है। चित्त और आत्मा का शरीर के साथ सहयोग है, वही उपवास है।

२ उसका उद्देश्य है—(क) अपनी चित्त-शुद्धि और दूसरो की सात्त्विक भावना का जागरण; (ख) अन्याय व अनुचित प्रवृत्तियो का अहिंसात्मक पद्धति द्वारा अंत लाना।

३. उसकी काल-मर्यादा—जब तक मानसिक विचार निर्मल रहें, आत्म-चिन्तन की अनुभूति न हो और लक्ष्य की प्राप्ति न हो।

४. चित्त-शुद्धि के विचार से शून्य, केवल दबाव के लिए किया गया आहार-त्याग उपवास नही हो सकता। वह अन्याय के प्रतिकार का अहिंसक साधन नही हो सकता।

इन निष्कर्षों पर चिन्तन कर उपवास की परम्परा मे नये उन्मेष लाने आवश्यक हैं। ऐसा किये बिना शक्ति के दुरुपयोग की सभावना को नही रोका जा सकता।

---

१. महादेवभाई की डायरी, भाग ३, पृ० २६६।

तीर्थकर और सिद्ध

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आत्मा के सम्बन्ध मे सब दार्शनिक एकमत नही है। कुछ दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। कुछ उसे कूटस्थ नित्य मानते है। कुछ दार्शनिको के मतानुसार आत्मा अनित्य है। जैन दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। आत्मा के अस्तित्व को समझने के लिए छह बातें ज्ञातव्य है—

१. आत्मा है,
२ पुनर्भव है,
३ बन्ध है,
४. बन्ध के हेतु है,
५ मोक्ष है,
६. मोक्ष के हेतु है।

प्रत्येक शरीर मे आत्मा है किन्तु किसी भी आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व ज्ञात नही होता, इसलिए आत्मा का अस्तित्व सदा सदेह का विषय बना रहता है। हमारे शरीर मे जानने वाली सत्ता आत्मा है। वह चिन्मय है। उसमे दृश्य वस्तुओ को जानने की क्षमता है। किन्तु वह स्वय पुनर्भवी है या नही है, यह जानने की क्षमता उसमे विकसित नही है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अनुमान के आधार पर कुछ विद्वानो ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आत्मा पुनर्भवी नही है तो अनेक विद्वानो ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि वह पुनर्भवी है। परोक्ष के आधार पर दोनो धाराए चल रही है। प्रत्यक्ष का प्रामाण्य किसी के पास नही है। यह विषय सूक्ष्म और दूरगामी है। इसलिए इसे केवल तार्किक स्तर पर सुलझाना सभव नही है। इसके समाधान के लिए तीव्र वैज्ञानिक प्रयत्न या तीव्र साधना निमित्त बन सकती है। जिन व्यक्तियो के मन मे आत्मा की उत्कट जिज्ञासा जाग उठती है, वे आत्म-दर्शन की साधना के पथ पर चल पडते है। यह साधु जीवन की भूमिका है।

ध्यान की उच्चतम भूमिका पर आरोहण करते-करते साधु प्रत्यक्षदर्शन उपलब्ध कर लेते है। वे प्रत्यक्षदर्शी (केवलज्ञानी) साधु जिन कहलाते है। तीर्थंकर जिन होते है पर सभी जिन तीर्थंकर नही होते। तीर्थंकर मे कुछ अतिरिक्त विशेषताए होती है। वे धर्म-शासन के शास्ता और पथ-दर्शक होते है। भगवान महावीर तीर्थंकर थे। उनके शासन मे सैकडो जिन थे। जीवनकाल मे जिन और तीर्थंकर दो भूमिकाओ मे रहते है। निर्वाण होने पर वे सब सिद्ध बन जाते है—समान भूमिका को प्राप्त हो जाते है। सिद्ध अवस्था बन्धन-मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था मे केवल आत्मा का अस्तित्व रहता है। इसलिए सिद्धत्व सर्व-सामान्य भूमिका है। जैन आगमसूत्रो मे सिद्धो के पन्द्रह प्रकार बतलाए गए है किन्तु वर्तमान अवस्था से उनका कोई सम्बन्ध नही है। उनका आधार पूर्वजन्म की स्थिति है। सिद्धो के पन्द्रह प्रकार ये है :

१. तीर्थसिद्ध—तीर्थंकर के शासन मे दीक्षित होकर मुक्त होने वाले।
२. अतीर्थसिद्ध—तीर्थंकर के शासन मे दीक्षित हुए बिना मुक्त होने वाले।
३. तीर्थंकर सिद्ध—तीर्थंकर के रूप मे मुक्त होने वाले।
४. अतीर्थंकर सिद्ध—तीर्थंकर की भूमिका को प्राप्त किए बिना मुक्त होने वाले।
५. स्वयबुद्ध सिद्ध—स्वय बोधि प्राप्त कर मुक्त होने वाले।
६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध—किसी एक निमित्त से बोधि प्राप्त कर मुक्त होने वाले।
७ बुद्धबोधित सिद्ध-- आचार्य के द्वारा सबुद्ध होकर मुक्त होने वाले।
८. स्त्रीलिंग सिद्ध—स्त्री-जीवन मे मुक्त होने वाले।
९ पुरुषलिंग सिद्ध—पुरुष-जीवन मे मुक्त होने वाले।
१०. नपुसकलिंग सिद्ध—कृत् नपुसक जीवन मे मुक्त होने वाले।
११. स्वलिंगसिद्ध—मुनि के वेश मे मुक्त होने वाले।
१२ अन्यलिंग सिद्ध—परिव्राजक आदि के वेश मे मुक्त होने वाले।
१३ गृहिलिंग सिद्ध—गृहस्थ के वेश मे मुक्त होने वाले।
१४ एकसिद्ध—एक समय मे एक ही मुक्त होने वाला।
१५. अनेकसिद्ध—एक समय मे अनेक मुक्त होने वाले।

इन भेदो मे सत्य की सम्प्रदाय, लिंग, वेश आदि बाह्य उपकरणो से निरपेक्ष स्वीकृति है। अमुक सम्प्रदाय मे दीक्षित होने पर ही कोई मुक्त हो सकता है अन्यथा नही हो सकता। अमुक वेश धारण करने पर ही कोई मुक्त हो सकता है अन्यथा नही हो सकता। अमुक लिंग में ही कोई मुक्त हो सकता है, अन्यथा नही हो सकता। दूसरो द्वारा प्रतिबुद्ध होने पर ही कोई मुक्त हो सकता है, अन्यथा

नही हो सकता। ये एकागी धारणाए इन पन्द्रह भेदो के द्वारा निर्मूल की गयी है। मुक्त वह हो सकता है, जो बन्धन-मुक्ति की साधना मे गतिशील है—सम्यक् दर्शनी, सम्यक् ज्ञानी और सम्यक् चारित्री है। भगवान महावीर के अनुसार मुक्ति के नियामक तत्त्व सम्प्रदाय, वेश और लिंग नही है, किन्तु सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। इनका यथेष्ट विकास होने पर किसी भी सम्प्रदाय या वेश मे मुक्ति हो सकती है और इनका विकास हुए बिना किसी भी सम्प्रदाय या वेश मे मुक्ति नही हो सकती। सम्प्रदाय आदि बाह्य निमित्त है। उनका जीवन के साथ आत्मीय सम्बन्ध नही है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र जीव के मौलिक गुण है। ज्ञान, दर्शन, वीतरागता आदि धर्मो से अन्वित सत्ता का नाम जीव है। बन्धन-दशा मे ये धर्म आवृत रहते है। इनकी साधना करने पर ये अनावृत होते चले जाते है। साधनाकाल मे ये मुक्ति के साधन होते है और सिद्धिकाल मे ये जीव के स्वाभाविक गुण हो जाते है।

जीव के मौलिक गुण चार है—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। ये गुण सब सिद्धो मे समान रूप से विकसित हो जाते है। इसलिए उस अवस्था मे स्वरूपकृत कोई तारतम्य नही होता। आचाराग सूत्र मे सिद्ध का स्वरूप निम्न शब्दो मे व्याख्यात है

वह सस्थान-रहित है—दीर्घ और ह्रस्व नही है। वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण और परिमडल नही है।

वह अरूप है—कृष्ण, नील, लोहित, पीत और शुक्ल नही है।

वह अगध है—सुगन्ध और दुर्गंध नही है।

वह अरस है—तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर नही है।

वह अस्पर्श है—कर्कश, मृदु, गुरु और लघु नही है।
शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष नही है।

वह अशब्द है—उसमे ध्वनि-प्रकपन नही है।
वह स्त्री, पुरुष और नपुसक नही है।
वह अशरीर, अजन्म और असग है।

वह अनुपम है—उसके प्रत्यक्ष बोध के लिए कोई उपमा नही है।

वह अपद है—उसकी व्याख्या के लिए कोई पद नही है। स्वर उस तक पहुच नही पाते। उसे जानने के लिए कोई तर्क नही है। मति उसे ग्रहण नही कर पाती। वह चिन्मय अरूपी सत्ता है।

औपपातिक सूत्र मे सिद्ध के बारे मे कुछ विशेष जानकारी मिलती है। वहा कहा गया है—'मुक्त जीव किससे प्रतिहत है? कहा स्थित होते है? कहा शरीर को छोडते है? और कहा जाकर सिद्ध होते है?'

'वे अलोक से प्रतिहत होते हैं, लोक के अग्रभाग मे स्थित होते है, [illegible] मे शरीर को छोडते है और लोक के अग्रभाग मे जाकर सिद्ध होते है। वे [illegible] सघन (एक-दूसरे से सटे हुए) और ज्ञान-दर्शन मे सतत उपयुक्त होते है। [illegible] वैसा सुख प्राप्त होता है, जिसके लिए इस जगत् मे कोई उपमा नही है।

एक राजा अश्वारूढ होकर यात्रा के लिए गया। उसका घोडा [illegible] वाला था। वह राजा को घने जगल में ले गया। वहा एक जगली आदमी [illegible] था। उसने राजा का आतिथ्य किया और उसे मार्ग वता दिया। राजा उसे [illegible] साथ ले गया। उसने सकट मे सहायता की, उसे याद कर राजा ने [illegible] बहुत सम्मान किया। उसे वडे प्रासाद मे ठहराया। वड़े-वडे राजभवन [illegible] बढ़िया भोजन कराया। कुछ दिन रहकर वह जगल मे चला गया। [illegible] पूछा तो उसने कहा—मैं नगर मे गया था। नगर कैसा होता है? [illegible] बड़े-वडे घर होते है। उसने बहुत वतलाया पर उन्हे नही समझा [illegible]। [illegible] प्रकार सिद्ध के सुख भी अनुभूतिगम्य है, वाणीगम्य नही हैं। सिद्ध का [illegible] और निर्विघ्न है, अतृप्ति और क्षोभ से मुक्त है।

जीव सिद्ध की अविकसित दशा है और सिद्ध जीव की विकसित दशा है। इन दोनो मे दशा-भेद है, अस्तित्व-भेद नही है। प्रत्येक पदार्थ का [illegible] त्रैकालिक है, तव कोई कारण दिखाई नही देता कि जीव का अस्तित्व त्रैकालिक न माना जाए।

मैं क्यों घूम रहा हूं ?

मैंने अनेक लम्बी-लम्बी पद-यात्राए की है। इस वर्ष भी मैं लगभग दो हजार मील घूमा हू। मैं पदयात्रा क्यो कर रहा हूं, बहुत लोग यह जानना चाहते है। मेरी यात्रा का उद्देश्य सत्य की जिज्ञासा, शोध और अभिव्यक्ति है। मैने प्रकृति के प्रागण मे लम्बा समय विताया है। मैं किसी वाहन का उपयोग नही करता, इसलिए धरती और आकाश से मेरा सीधा सम्पर्क है। अनगिन पहाडो, नदियो, जंगलो, गुफाओ और राजपथो को मैंने देखा है। लाखो-लाखो लोगो से प्रत्यक्ष सम्पर्क हुआ है। विविध विचारधाराओ और परिस्थितियो का आकलन किया है। विश्व की विराटता को मैंने मुक्त दृष्टि से देखने का विनम्र प्रयत्न किया है।

मैं अनेकान्त मे विश्वास करता हू। स्याद्वाद मुझे इष्ट है, इसलिए सहज ही मुझे आग्रह-मुक्त होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इन यात्राओ और व्यापक सम्पर्क ने मेरी दृष्टि को नये-नये आयाम दिए है। मुझे जो सत्य उपलब्ध हुआ है, उसे मैं प्रयोग की कसौटी पर कस रहा हू और अनुभूत प्रयोग को जनता के सामने प्रस्तुत कर रहा हू।

मुझे पहला सत्य यह मिला है कि विश्व केवल परिवर्तनशील या केवल स्थितिशील नही है। यह परिवर्तन और स्थिति का अविकल योग है। फिर मनुष्य को परिवर्तन से भयभीत क्यो होना चाहिए ? उसमे स्थिति को पूर्ववत् बनाए रखने का आग्रह क्यो होना चाहिए ? परिवर्तन परमाणु व विश्व की सबसे बडी इकाई -- सबमे घटित होता है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक सभी नियमो व्यवस्थाओ और विधि-विधानो मे उसकी अनिवार्यता है। फिर परिवर्तन-विमुखता का कोई अर्थ समझ मे नही आता। युग जिस परिवर्तन की अपेक्षा रखता है, उसके लिए पूर्ण तैयार रहना ही सत्य की उपलब्धि है।

कुछ लोगो ने कहा कि पश्चिमी वगाल मे वामपथी सरकार बन गयी, अब क्या होगा ? मैंने कहा—'कुछ भी नही होगा। यदि आप लोग बदल जाए, समय की नब्ज को पहचान लें तो कुछ भी नही होगा और यदि आप समय-चक्र को

उलटने का यत्न करे तो जो नही होने वाला है, वह भी हो सकता है।'

मानवीय समानता का सिद्धान्त आज से हजारो वर्षों पहले प्र[illegible] चुका था किन्तु आर्थिक समानता का सिद्धान्त पहले प्रतिपादित नही हु[illegible] युग के समाजशास्त्रियो ने उसका सम्यक् प्रतिपादन किया है। मनुष्[illegible] बहुत बड़े भाग ने उसे मान्यता दी है। आज आर्थिक वैषम्य को बनाए र[illegible] लिए होने वाले किसी भी प्रयत्न मे प्राण-शक्ति नही है। इसलिए [illegible] युगचिंता के साथ अपने चिंतन को मिला देना ही अनिष्ट चिन्ता से [illegible] उपाय है।

कुछ लोग कहते है मनुष्य चाद मे पहुच चुका, अब धर्मशास्त्रो का क्या [illegible] मैं कहता हूं कुछ भी नही होगा। जो मान्यताए परिवर्तनीय है, वे बदल[illegible] और वे बदलनी ही चाहिए। परिवर्तनीय के प्रति परिवर्तन का दृष्टिकोण [illegible] ही उलझनो से बचने का राजमार्ग है।

विश्व स्थितिशील भी है, फिर सब कुछ बदलने या प्राचीन को [illegible] अनुपयोगी मानने का आग्रह क्यो होना चाहिए? इसमे सब कुछ परिवर्तनीय न[illegible] है। जीवन के कुछ स्थायी मूल्य होते हैं। मानसिक शान्ति एक स्थायी मूल्य है। वह परिवर्तनीय नही है। शान्ति के स्थान पर अशान्ति को प्रतिष्ठापित क[illegible] अपेक्षित नही है। अभय, समानता, मैत्री, प्रामाणिकता सत्य आदि अनेक [illegible] ऐसे हैं, जिनका त्रैकालिक मूल्य है। अध्यात्म जीवन का स्थायी मूल्य है। [illegible] छोडकर मनुष्य केवल आन्तरिक शान्ति से ही वचित नही होता, व्यावहारि[illegible] सौमनस्य भी खो बैठता है।

मुझे दूसरा सत्य यह मिला है कि परिस्थिति-परिवर्तन व हृदय-परिवर्तन [illegible] योग किए विना समस्या का समाधान नही हो सकता। मुझे एक मान[illegible] विधायक मिले। मैंने उनसे अणुव्रत की चर्चा की। वे बोले—'मनुष्य वै[illegible] आचरण करता है, जैसी परिस्थिति होती है, इसलिए हमारा ध्यान परिस्थि[illegible] परिवर्तन की दिशा मे केन्द्रित होना चाहिए।' मैंने उनसे कहा—'हृदय-परिवर्तन [illegible] मानवीय एकता की तीव्र अनुभूति हुए विना परिस्थिति के बदल जाने पर [illegible] मनुष्य का आचरण बदलने मे कठिनाई होती है। समस्याओ के समाधान [illegible] परिस्थिति और हृदय दोनो का परिवर्तन आवश्यक है। एक राजनयिक [illegible] परिस्थिति-परिवर्तन मे मुख्य होगा, जबकि एक धार्मिक का ध्यान हृदय-परिवर्तन [illegible] की दिशा मे मुख्य होगा। एक धार्मिक परिस्थिति-परिवर्तन व [illegible] हृदय-परिवर्तन की सापेक्षता की अवहेलना न करे तो मेरा विश्वास है [illegible] समस्याओ के समाधान मे अधिक त्वरता आ सकती है।

मुझे तीसरा सत्य यह मिला है कि केवल सामाजिकता और [illegible] को मान्यता देने से समस्याओ का समाधान नही हो सकता। समाजवादी [illegible]

व्यक्तिगत स्वतत्रता का मूल्य स्थापित होने पर ही समाजवादी शिविर मे पनपने वाली व्यक्ति की उपेक्षा और व्यक्ति मे पनपने वाली सकुचित स्वार्थ की सीमा—ये दोनो दोष दूर हो सकते है। सामुदायिक व व्यक्तिगत दोनो प्रकार की समस्याओ का अध्ययन करके सामुदायिकता को व्यवस्था की दुर्बलता व व्यक्ति को मानसिक दुर्बलता से बचाया जा सकता है।

मुझे चौथा सत्य यह मिला है कि वर्तमान और भविष्य दोनो मे से एक भी उपेक्षणीय नही है। सामाजिक लोग जितना ध्यान वर्तमान पर देते है, उतना भविष्य पर नही देते और जितना भविष्य पर देते है, उतना वर्तमान पर नही देते यानी जितनी चिंता अगले जन्म की करते है, उतनी वर्तमान जीवन की नही करते। मुझे ये दोनो त्रुटिपूर्ण लगते है। वर्तमान को समझे बिना हम भविष्य को उज्ज्वल नही बना सकते और भविष्य का मूल्याकन किए बिना हम वर्तमान को सर्वांगीण सुन्दर नही बना सकते। इसलिए हमारी दृष्टि वर्तमान और भविष्य—दोनो पर समकेन्द्रित होनी चाहिए।

मुझे सर्वागीण व समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ है। एकागी दृष्टिकोण से होने वाली कठिनाइयो और सर्वागीण दृष्टिकोण से होने वाले समाधानो को हृदयगम करने के लिए मै जनता के बीच घूम रहा हू।

मेरी यात्रा

मैं अनवरत यात्रा कर रहा हूं। किसलिए कर रहा हू, यह जिज्ञासा [illegible] पर मेरे मन मे भी उभरती है। मैं जैन मुनि हू। जैन मुनि के लिए [illegible] मे रहना वर्जित है। क्या इसीलिए मैं यात्रा कर रहा हू? यदि इसी [illegible] यात्रा करता तो उसके लिए राजस्थान से दक्षिण तक आने की आवश्[illegible] होती। उस नियम का पालन तो राजस्थान मे ही हो जाता है।

जैन लोग हिन्दुस्तान के हर प्रान्त मे हैं। मै जैन धर्म का आचार्य [illegible] का कर्तव्य है कि वह अपने अनुयायियो के बीच मे जाकर उन्हे धर्म [illegible] दे। क्या मैं इसी उद्देश्य से इतनी लम्बी यात्रा कर रहा हू? मेरे अनु[illegible] का उपयोग करते हैं, मैं अपने पैरो से चलता हू। मैं उन तक पहुचू, इस[illegible] यह बहुत सरल है कि वे मुझ तक पहुंचें और धर्म की प्रेरणा प्राप्त करें।

तो आखिर मैं किसलिए यात्रा कर रहा हू? यह प्रश्न आपके मन[illegible] होगा और मेरे मन मे भी है। मैं अपने मन की जिज्ञासा का सम[illegible] चाहता हू, सभव है आपकी जिज्ञासा को भी समाधान मिल जाए।

यात्रा का उद्देश्य

मैं केवल जन्मना जैन नही हू, कर्मणा भी जैन हू। भगवान् महावीर द्वारा [illegible] तत्त्व के प्रति आस्थावान् हू। भगवान् ने जीव-मात्र की समानता [illegible] किया था। एक समय मे उनके शिष्यो ने इस स्वर को बहुत प्राणवान् [illegible] जब जातिवाद और छुआछूत की बीमारी सक्रामक हो रही थी, तब [illegible] अचलो—दक्षिण और उत्तर—से जैन आचार्यों ने यह उद्घोष किया [illegible] मणुस्स जाई'—मनुष्य-जाति एक है। उस समय मानवीय एकता [illegible] क्रान्तिकारी स्वर था। धर्म-सम्प्रदाय, जाति, भाषा, रग व भौगोलिक [illegible] हुई मनुष्य-जाति क्या सचमुच एक है? इस तथ्य की शोध करने [illegible] गाव मे घूम रहा हूं, पथ-पथ की परिक्रमा कर रहा हू।

मैं राजस्थान से चला हू, गुजरात मे आया। यहा भाषा बदल गई—हिन्दी की जगह गुजराती आ गई। गुजरात से मै महाराष्ट्र आया। गुजराती के स्थान पर मराठी आ गई। मै जैसे ही कर्नाटक या मैसूर मे आया, कन्नड आ गयी। मद्रास मे तमिल आ गई। हर भौगोलिक सीमा ने भाषा को नया रूप दिया है। मै इस अनेकता या विविधता से बहुत मुग्ध हू। मै भगवान् महावीर के 'अनेकता मे एकता' सिद्धान्त को बहुत पसन्द करता हू। यदि इतनी बडी यात्रा मे मैं एक ही भाषा, एक ही वेशभूषा, एक ही खानपान की पद्धति, एक ही धर्म-परम्परा और एक ही प्रकार की धरती को देखता तो मैं आश्चर्यपूर्ण आनन्द से वंचित रह जाता। विविधता ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। इस विविधता या अनेकता मे मैंने देखा और बहुत गहराई से देखा कि मानवीय एकता का सूत्र कही भी टूटा नही है। मिट्टी कही काली आ गई है और कही पीली और कही लाल। किन्तु मनुष्य के हृदय मे मैंने हर मिट्टी का प्रभाव देखा है। भाषा का परिवर्तन हो जाने पर भी मैने भावो की समरसता का अनुभव किया है। जातीय व साम्प्रदायिक भेदो के उपरान्त भी मानवीय एकता का स्वर मुझे सर्वाधिक सुनाई दिया। अपने आकलन के आधार पर मै कह सकता हू कि आज का युवक भेद की अपेक्षा अभेद को अधिक पसन्द करता है। अनेक स्थानो मे अनेक लोगो ने अनेक बार मुझसे कहा—'आप जैन एकता के लिए जो प्रयत्न कर रहे है, उसका हम समर्थन करते है।' कुछ लोगो ने कहा—'सम्प्रदायो की बाढ-सी आ गई। हम इन परस्पर-विरोधी धाराओ से ऊब चुके है। आप धर्म-समन्वय की बात करते है, वह हमे बहुत अच्छी लगती है।' कुछ लोगो ने कहा—'धर्म आज कोरा क्रियाकाण्ड बन गया है। आपकी धर्मक्रान्ति की बात हमे बहुत पसन्द आती है।'

मैंने गुजरात मे प्रवेश करते ही अपनी यात्रा के तीन उद्देश्य बतलाए थे:

१ मानवता या चरित्र का निर्माण।

२ धर्म-समन्वय।

३ धर्म-क्रान्ति।

मुझे लगा कि मै जिन तत्त्वो की खोज व जिन मूल्यो की स्थापना के लिए यात्रा पर निकला हू, उनके प्रति आज के मानस मे सहज आकर्षण है। मेरा जन-मानस के प्रति और जन-मानस का मेरे विचारो के प्रति जो आकर्षण है, वही मेरी यात्रा को सहज बना रहा है।

मैं अधिक समय तक राजस्थान मे रहा हू, फिर भी ... क ८८
किसी भी प्रान्त से बधा हुआ नही हू, इसलिए सभी ... रे मन
आत्मीयता का भाव है।

मैं लम्बे समय से हिन्दी के वातावरण मे रहा हू, ... ोम पं
किन्तु जैन मुनि होने के कारण मैं किसी भी भाषा ... ई हू।

मुनियों की यह प्रकृति रही है कि वे जिस प्रान्त मे गये या रहे, उसी प्रान्त की भाषा का उन्होने समर्थन किया। तमिल, कन्नड आदि दक्षिणी अंचल की भाषाओं मे जैन विद्वानो की रचनाओ तथा जैनेतर विद्वानो द्वारा उनकी मुक्त प्रशंसा सुनकर मैं बहुत बार हर्ष-विभोर हो जाता हू।

मैं भाषा को माध्यम मानता हू। वह एक आदमी के भावो को दूसरे आदमी तक पहुचाती है, जोडती है। हम भाषा को, मानवीय एकता को तोडने का माध्यम बनाकर कितनी भूल करते हैं, इस पर हमे गहराई से चिन्तन करना चाहिए।

मुझे अनेक मित्रो ने सुझाव दिया कि आप इस समय दक्षिण भारत न जाए। वहा आपको भाषा की समस्या का सामना करना पडेगा। मैंने उनसे कहा— मैं राजनीति से लिप्त नही हू। भाषा-विवाद मे मेरा कोई रस नही है। किसी एक भाषा को आगे लाना और अन्य भाषाओ के विकास को अवरुद्ध करना मेरी दृष्टि मे अनुचित है। राष्ट्र की एक सम्पर्क-भाषा होनी चाहिए, इस विचार को मैं पसन्द करता हू। किन्तु मैं इस पक्ष मे नही हू कि यह कार्य बलात् किया जाए, इस कार्य के लिए हार्दिक रुचि उत्पन्न करना मुझे इष्ट है। मैं समग्र मानव-जाति को जोडने के पक्ष मे हू, तब भाषा का प्रश्न मेरे सामने क्यो कठिनाई उत्पन्न करेगा? मैं मानता हू कि मै जिस प्रान्त मे जाऊ वहा मुझे उसी प्रान्त की भाषा बोलना चाहिए। मातृभाषा मे जितना हार्द समझा जाता है, उतना अन्य भाषा मे नही समझा जाता। किन्तु मेरी भी कुछ कठिनाइयां हैं। मैं अणुव्रत के कार्य मे बहुत व्यस्त हू। मेरी सर्वाधिक रुचि या तडप इस बात मे है कि मनुष्य मे मानवीय गुणों का विकास हो। चरित्र-हीनता व्यक्ति या समाज के लिए अभिशाप है। उसके उन्मूलन मे कुछ सहयोगी बनना चाहता हू। भौतिक प्रगति से राष्ट्र का शरीर शक्तिशाली बनेगा, किन्तु उसकी आत्मा मे शान्ति, सौहार्द और प्रसन्नता विकसित नही होगी। इसलिए चरित्र-निर्माण को मैं प्राथमिकता देता हू। मैंने आगमो के शोध का कार्य भी मैंने अपने हाथ मे ले रखा है। इसलिए सब भाषाओं को सीखने मे पर्याप्त समय लगाना कठिन है। मै अपनी दुर्बलता या कठिनाई स्वीकार कर लेता हू, फिर भी मैं इस पक्ष का समर्थक नही हू कि आपकी भाषा सीखे बिना मैं आप तक नही पहुच सकता। क्या एक हिन्दी-भाषी दूसरे हिन्दी-भाषी से नही लडता? भाषा एक माध्यम है। हृदय एक हो तो भाषा के द्वारा दूसरो तक प्रेम पहुचाते है और हृदय टूटे हुए हो तो भाषा के द्वारा हम दूसरो तक घृणा पहुंचाते है। मैं भाषा की अपेक्षा भावो को अधिक महत्त्व देता हू। मेरे हृदय के भाव आपके प्रति प्रेममय, सौहार्दपूर्ण और हित-भावना से ओत-प्रोत है। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का सकल्प लिया है। मैं जनता तक पहुचता हू, वह भावना के माध्यम से पहुचता हू, किसी भाषा के माध्यम से नही पहुचता। जनता मेरे मैत्री-भावो को सुनने के लिए मेरे पास आती है, किसी भाषा को सुनने के

मेरे पास नही आती। मुझे विश्वास है कि भावो की एकता होने पर भाषा की समस्या गौण हो जाती है।

मैं कृत्रिम समस्याओ द्वारा वास्तविक समस्या पर आवरण डालने को बहुत खतरनाक मानता हू। आज की वास्तविक समस्या मूल्यो का सघर्ष है। समाज, राजनीति, धर्म और व्यवसाय इन सबके पुराने मूल्य बदल रहे है और नये मूल्य प्रस्थापित हो रहे हैं। पुराने लोग नये मूल्यो को स्वीकार नही कर रहे है और नयी पीढी पुराने मूल्यो को बलात् समाप्त कर देना चाहती है। एक पक्ष की रूढिवादिता और दूसरे पक्ष का अधैर्य, दोनो मिलकर परिस्थिति को जटिल बनाये हुए है।

मैं परिवर्तन को अपरिहार्य मानता हू, इसलिए रूढिवाद मे मेरा विश्वास नही है। मै अहिसा मे विश्वास करता हू, हिसक तोड-फोड या अधैर्य को पसन्द नही करता। मूल्यो के परिवर्तन की प्रक्रिया अहिसात्मक हो, इसमे मेरी आस्था है।

आज हिसा बढ रही है। इसमे मुझे कोई आश्चर्य नही है। क्योकि सामाजिक निरपेक्षता जब बढती है, तब हिसा को बढावा मिलता है। समाज की आधार-शिला है सापेक्षता। एक आदमी दूसरे आदमी से सापेक्ष होता है, तभी समाज बनता है। सापेक्षता स्वार्थ-विमर्जन से निष्पन्न होती है। आदमी अपने स्वार्थ को मुख्य मान लेता है, तब वह समाज के प्रति निरपेक्ष व्यवहार करने लग जाता है। इस स्थिति मे हिसा को उत्तेजना मिलती है। सापेक्षता का अनुभव करने वाला आदमी दूसरे को ठग नही सकता, दूसरे का शोपण नही कर सकता, मिलावट नही कर सकता, मुनाफाखोरी नही कर सकता। सारी की सारी सामाजिक विषमता निरपेक्षता का ही परिणाम है।

मैंने जहा तक अध्ययन किया है, इस समस्या का समाधान धर्म है। मै धर्म का सदेश लेकर आप लोगो के बीच मे आया हू। आप जानना चाहेगे कि मै किस धर्म का सदेश लेकर आया हू ? मै आपको बताना चाहता हू कि मै किसी भी धर्म का सदेश लेकर नही आया हू। मै केवल धर्म का सदेश लेकर आया हू। जितने धर्म प्रचलित है, वे लगभग सम्प्रदाय बन गये है। वे पूजा और उपासना की पद्धतियो व क्रियाकाण्डो के आधार पर चल रहे है। उनसे युगीन समस्याओ को कोई भी समाधान मिलने वाला नही है। मै उस धर्म को पसन्द करता हू, जिसमे चरित्र-शुद्धि का स्थान मुख्य है और उपासना का स्थान गौण है। अणुव्रत मे उपासना का कोई प्रबन्ध नही है। वह केवल चरित्र-शुद्धि का प्रयत्न है। इसीलिए वह युग-धर्म है। उससे केवल मानसिक शान्ति और आन्तरिक पवित्रता ही प्राप्त नही होती है, अपितु युग की समस्याए भी सुलझती है। मुझे विश्वास है आप अणुव्रती बनने का प्रयत्न अवश्य करेगे। अणुव्रती बनने का अर्थ है मनुष्य बनना, अणुव्रती बनने का अर्थ है धार्मिक बनना और अणुव्रती बनने का अर्थ है नये सामाजिक मूल्यो को प्रस्थापित करना।

नारी को लक्ष्मी-सरस्वती ही नहीं, दुर्गा भी बनना होगा

समाज के दो घटक है—स्त्री और पुरुष। दोनो घटको का स्वतन्त्र अस्तित्व है पर दोनो की स्वतन्त्र अस्मिता नही है। हमारे देश के पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष वर्ग की अपनी अस्मिता है, पहचान है, इसलिए उसका प्रमुत्व भी है। किन्तु स्त्री-जाति शताब्दियों-सहस्राब्दियो से उपेक्षित और प्रताडित होती रही है इसलिए उसमें हीन भावना आ गई। हीन भावना जीवन के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। जो समाज हीन भावना से आक्रान्त होता है, वह प्रगति नहीं कर सकना। हीन भावना छूटते ही प्रगति के द्वार खुल जाते हैं। यदि महिला समाज प्रगति का आकाक्षी है तो उसे सबसे पहले हीन भावना की गिरफ्त से मुक्त होना है। दुर्बलता या कमी का जहां तक प्रश्न है, वह किस वर्ग मे नही होती? क्या पुरुष वर्ग मे कोई कमी नही है? फिर महिलाए स्वय को हीन क्यो मानें?

महिला जाति की हीन भावना का एक कारण है उसका पुरुष पर निर्भर रहना। इस सन्दर्भ मे विचारणीय पहलू यह है कि पुरुप को अगर महिला की अपेक्षा नहीं है तो महिला को पुरुप की अपेक्षा क्यो हो? एक महिला को पुरुष की जितनी जरूरत है, उतनी ही जरूरत पुरुष को महिला की होती है। क्योंकि वे एक-दूसरे के पूरक है। भारतीय परिवेश मे पुरुप और महिला दोनों सापेक्ष रहकर ही अपने जीवन को पूर्णता दे सकते हैं। एक-दूसरे से कटकर वे अधूरा जीवन जीते है। ऐसी स्थिति मे महिलाओ का पुरुष के हाथ की कठपुतली बने रहना किसी भी तरह वाछनीय नही है।

महिला पुरुष की सहचरी है, सहधर्मिणी है। उसे अपने घर मे वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो एक पुरुप को होते है। पर इस बात को सामाजिक स्वीकृति नही मिलती है, तब वियोगिनी बहनो की दुर्गति होती है। आज विधवा-विवाह अथवा महिला के पुनर्विवाह को प्रोत्साहन मिल रहा है। क्यो? यदि वैधव्य भोगने वाली बहनो को भी समाज मे सम्मान से जीने का अधिकार प्राप्त होता, उनकी खुशियो को नही छीना जाता, उन पर सामाजिक एव नैतिक वर्जनाओं को बरकरार

नही थोपा जाता तो कोई भी भारतीय महिला पुनर्विवाह की बात नही सोचती। 'त्रिया-तेल हमीर-हठ चढै न दूजी बार'—यह कहावत व्यर्थ तो नही है। पर इसको व्यर्थता देने वाले सामाजिक परिवेश मे परिवर्तन जरूर अपेक्षित है।

एक परिवार मे तीन भाई है। तीनो की पत्निया है। आर्थिक सपन्नता के कारण तीनो बहने पूरे ठाट-बाट से रहती है। सयोग की बात, एक बहन को पति का विगोग हो गया। उसके बाद तो स्थितिया ही बदल गई। दो बहने उस परिवार मे मालकिन की हैसियत से रहती है, क्योकि वे सौभाग्यवती है। किन्तु तीसरी बहन के जीवन मे एक दु ख क्या आया, दु ख का पहाड ही टूट पड़ा। उसे अपने ही घर मे एक नौकरानी की तरह रहना पडता है। क्या कोई पुरुष अपनी पत्नी के वियोग मे ऐसा जीवन जीता है? यदि नही तो स्त्री ने कौन-सा अपराध किया है जो उसे ऐसी हृदय-विदारक वेदना भोगनी पडे। समाज का दायित्व है कि ऐसी वियोगिनी योगिनियो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण वातावरण का निर्माण करे और उन्हे सचेतन जीवन जीने का अवसर दे।

प्रश्न हो सकता है कि यह स्थिति महिला की ही क्यो होती है? पुरुष की क्यो नही? कारण स्पष्ट है। महिलाओ ने काटना तो बन्द किया ही, फुफकारना भी बन्द कर दिया। ऐसी स्थिति मे उनका वर्चस्व कैसे स्थापित हो सकता है?

एक भयकर काला नाग था। वह देखने मे जितना हिंसक लगता था, उससे भी अधिक खतरनाक था। वह जहा रहता था, उस स्थान के आसपास जाने की हिम्मत किसी मे नही थी। एक बार उस नागराज का किसी सन्यासी से सम्पर्क हो गया। सन्यासी ने उसको अहिंसा का उपदेश दिया। सयोग की बात थी, सन्यासी के उपदेश से नागराज की मानसिकता बदल गई। उसने अहिसा वृत्ति स्वीकार कर ली। उसके बाद उसने काटना छोड दिया, फुफकारना छोड दिया और अधिक घूमना-फिरना भी बन्द कर दिया।

एक दिन कुछ बच्चो ने देखा—नागराज निश्चेष्ट सोया पडा है। उन्होने कुछ ढेले उठाकर फेके, पर वह हिला तक नही। यह सवाद पूरे गाव मे फैल गया। गाव से कुछ और लोग वहा आये। लकडी और ढेलो से नागराज की अच्छी मरम्मत होने लगी। कुछ दिनो बाद वही सन्यासी घूमता-फिरता वहा आ पहुचा। नागराज सन्यासी को पहचानकर बोला—'बाबाजी! आपकी अहिसा ने मुझे मार दिया। इधर से आने वाले लोग इतना सताते है कि मेरा जीना दूभर हो गया है। पहले ये लोग मेरे सामने भी नही देख सकते थे, अब मेरी जिन्दगी के साथ खिलवाड कर रहे है। क्या मै इन सबको सहन करता रहू?'

सन्यासी ने एक क्षण मुसकराकर पूछा—'तुम किसी को काटते तो नही हो?' नागराज के निषेधात्मक उत्तर पर संन्यासी ने फिर पूछा—'क्या तुम फुफकारते भी नही हो?' नागराज ने इस बार भी नकारात्मक उत्तर दिया। सन्यासी उसे

सबोधित कर बोला—'देखो भाई ! तुम सन्यासी नही हो, तुम्हारी अपनी
है। तुमने अहिसा का व्रत लिया है, पर इसका अर्थ यह तो नही है कि तुम
जीवन की सुरक्षा ही न करो।' सन्यासी के परामर्श से नागराज ने
फुफकारना शुरु कर दिया। एक ही दिन मे लोग उनसे भय खाने लगे।
का प्रभाव स्थापित हो गया।

महिलाए भी जब तक अपनी शक्ति का प्रदर्शन नही करेंगी, उनसे
नही लेगी, समाज उनका मूल्यांकन नही करेगा। भलमनसाहत बहुत
है, पर इसमे भी जब अति हो जाती है, तब वह दुर्बलता की प्रतीक बन जाती है।
इस दृष्टि से महिला समाज को शक्ति-जागरण और उसके उपयोग
बनना जरूरी है।

गृहस्थ जीवन मे तीन बाते घर की शोभा है—लक्ष्मी, शिक्षा और
सौभाग्य से ये तीनों ही रूप नारी के है। लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा—इन
देवियो को ससार पूजता है। परिवार और समाज मे लक्ष्मी एव सरस्वती
जितना महत्त्व है, दुर्गा का भी उससे कम महत्त्व नही है। केवल लक्ष्मी
सरस्वती बनने से महिलाओ का काम नही चलेगा, उन्हे दुर्गा भी बनना
दुर्गा बनने का मतलब हिंसा या आतंक फैलाने से नही, शक्ति को सजोकर
से है। हर युग, हर देश और हर जाति की महिला मे ये तीन गुण स्वाभाविक
लक्ष्मी उदारता की प्रतीक है, सरस्वती सृजनशीलता की प्रतीक है और
शक्ति की प्रतीक है। बहनो ने अपने लक्ष्मी-सरस्वती के रूप को सुरक्षित
है, पर दुर्गा रूप को विस्मृत कर दिया है। यह विस्मृति न नारी जाति के
है और न पुरुष समाज के हित मे है। पूजा व्यक्ति की नही, शक्ति की होती
शक्तिहीन की पूजा तो क्या, पहचान भी नही हो सकती। यदि महिला
अपनी स्वतंत्र अस्मिता स्थापित करनी है तो उन्हे समुचित और सुनियोजित
से अपनी शक्ति का समायोजन करना होगा।

कुछ महिलाएं अपने जीवन के सपाट धरातल पर तो निर्भीकता से
है, पर सामने समस्या को देखकर घबरा जाती है। समस्याए न रहें, यह
नही है। मै चाहता भी नहीं कि समस्याए न आएं। आवश्यक यह है कि
उपस्थित होने पर घुटने नही टिकाकर उसका समाधान खोजा जाए।
कोई भी समस्या ऐसी नही है, जिसका समाधान न हो। समाधान खोजने
व्यक्ति ही अपने कर्तृत्व को उजागर कर सकता है और समाज मे अपना
स्थापित कर सकता है।

माउंटबेटन जब विद्यार्थी था, वह नौसैनिक की शिक्षा प्राप्त कर
एक दिन शिक्षक ने उससे पूछा—'तुम नाव मे बैठकर समुद्र मे जाओगे
तूफान आ जाएगा तो क्या करोगे?' माउंटबेटन तपाक मे बोला—'मर

डाल दूगा।' 'फिर तूफान आ गया तो?' 'फिर लगर डाल दूगा।' 'मान लो एक तूफान और आ गया तो?' 'सर! जितनी बार तूफान आएगा, मैं लगर डालता रहूगा।' अपने विद्यार्थी की इस निर्भीकता से प्रसन्न हो शिक्षक ने एक प्रश्न फिर पूछा—'तुम्हारे पास इतने लगर कहा से आएगे?' माउटबेटन बिना एक क्षण रुके बोला—'सर! जहा से इतने तूफान आएगे।' शिक्षक ने माउटबेटन को नौ सेना के लिए उपयुक्त और योग्य विद्यार्थी घोषित किया।

महिला समाज को भी किसी समस्या से कायल होने की जरूरत नही है। पुरुषार्थ से समस्या स्वय समाधान बन जाती है। इसके लिए अपेक्षा एक ही बात की है कि महिलाए गुडिया बनकर न बैठे। ये गहने और चटक-मटक वाले कपडे जीवन को बोझिल बनाने वाले है। कुछ चिन्तनशील लोगो का अभिमत है कि स्त्रियो के लिए इतने आभूषणो का उपयोग पुरुप समाज का एक षड्यन्त्र हो सकता है। नारी को बधन मे रखने का सरल तरीका उसे यही लगा होगा। पुरुषो ने चाल चली और महिलाओ ने उसको अपना शृगार मानकर स्वीकार कर लिया। लेकिन अब वह समय बीत गया है। भगवान् महावीर ने तो ढाई हजार वर्ष पहले कह दिया था—**'सव्वे आभरणा भारा।'** आभूपण कितना ही कीमती क्यो न हो, वह उपहार नही भार है। इस आगम-वाणी को ध्यान मे रखकर महिलाओ को सादगीपूर्ण जीवन जीने के लिए तैयार रहना चाहिए। वेशभूषा जितनी सीधी-सादी होगी, जीवन-स्तर उतना ही उन्नत हो सकेगा।

जीवन-स्तर को उन्नत बनाने वाली तीन शक्तिया है—ज्ञान-शक्ति, श्रद्धा-शक्ति और चरित्र-शक्ति। श्रद्धा की शक्ति महिलाओ को सहज प्राप्त है। ज्ञान-शक्ति का विकास युग की देन है। चरित्र-शक्ति को विकसित करने मे अणुव्रत पूरा सहयोगी बन सकता है। अणुव्रत की आचार-सहिता मे एक चरित्रनिष्ठ समाज का पूरा चित्र है। अणुव्रत जीवन का सबल है और विकास का धरातल है। महिलाए इस क्षेत्र मे काम करे तो बडा काम हो सकता है।

महिलाओं के लिए त्रिसूत्री कार्यक्रम

मानव जाति के विकास का मूल आधार है चिन्तनशक्ति, संकल्पशक्ति और कर्मशक्ति का समुचित योग। किसी भी कार्य की सफलता के लिए चिन्तन के धरातल पर एक योजना बनाई जाती है, उस योजना को क्रियान्वित करने का संकल्प सजोया जाता है और उचित साधन-सामग्री का सकलन कर काम प्रारम्भ कर दिया जाता है। उस काम के प्रति गहरी निष्ठा और आन्तरिक लगन हो तो, वह असदिग्ध रूप से पूरा होता है। उसकी सम्पन्नता मे समय लग सकता है, उसमे अवरोध उपस्थित हो सकते है, पुरुषार्थ का नियोजन अधिक जागरूकता से करना पड़ सकता है, किन्तु वह हो जाता है। किसी भी काम की सपन्नता पर जो आत्मतोष प्राप्त होता है, वह अपूर्व होता है। पर उस आनन्द का भी महत्त्व कम नही है, जो अपने उद्देश्य को सफलता की ओर अग्रसर देखकर होता है।

समाज मे महिला-जागृति का काम बहुत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, पर है दुष्कर। जब तक महिलाओं की चेतना जागृत नही होती है, उन्हे अपनी दुर्बलताओं और क्षमताओ का सही बोध नहीं होता है, उनके मन मे अपनी पहचान बनाने का स्वप्न आकार नही लेता है और उनका सकल्प सक्रिय नही होता है, तब तक महिला-जागरण का अभिक्रम भी सफल नही हो सकता।

सत्त्वहीन को सहारा नही मिलता

हमारे देश मे शताब्दियो से महिलाओ को दुर्बल माना जा रहा है। यह मानो हर दुर्बलता उन पर इस प्रकार हावी हो जाती है कि अपने प्रति किए गए अन्याय या शोषण के प्रतिकार में भी वे कुछ नही कर सकती। उनको कोई सहारा भी मिलता है तो भी वे अपने प्रति आश्वस्त नही हो पाती। जो व्यक्ति या वर्ग स्वयं प्रति आश्वस्त नही होता, अपनी शक्तियो के प्रति आश्वस्त नही होता, उसे कौन उठा सकता है? और कौन बचा सकता है?

चोर चोरी कर निकला ही था कि राजपुरुषो ने उसका पीछा कर लिया।

चोर भागा और गाव से बाहर एक देवी के मदिर मे घुस गया। राजपुरुष उसके पीछे आ रहे थे। चोर ने देवी की मनौतिया की और अपने बचाव के लिए प्रार्थना करने लगा। सयोग की बात थी, देवी खुश हो गई। वह बोली—'तुम घबराओ मत। जाओ, राजपुरुषो का मुकाबला करो, मैं तुम्हारे साथ हू।' मुकाबले की बात सुनकर चोर के शरीर मे कपकपी छूट गई। वह बोला—'मा! मुकाबला ही करना होता तो तुम्हारी शरण मे क्यो आता?' देवी बोली—'मुकाबला करने से घबराते हो तो यही खडे हो जाओ और पूरी शक्ति के साथ चिल्लाओ। राजपुरुष लौट जाएगे।' चोर यह सुनकर कहने लगा—'मा! आवाज होठो से बाहर ही नही निकल रही है, कैसे चिल्लाऊ?' देवी ने दूसरा उपाय बताते हुए कहा—'मदिर का दरवाजा बन्द कर लो और निश्चित होकर सो जाओ।' चोर बोला—'मा! हाथो मे ताकत ही नही बची है, दरवाजा बन्द कैसे करू?' देवी के चित्त मे करुणा उमड रही थी। वह बोली—'तुम इस प्रतिमा के पीछे आकर खडे हो जाओ। कोई तुम्हारा कुछ भी नही बिगाड सकेगा।' चोर रुआसा होकर बोला—'मा! तुम कहती हो, वह सब ठीक है, पर करू क्या? मेरे पाव धरती पर चिपक से रहे है। मै तो दो कदम भी चल नही सकता।' यह बात सुनकर देवी बोली—'ऐसे सत्त्वहीन अकर्मण्य की रक्षा मैं नही कर सकती।' देवी ने ये शब्द कहे तब तक राजपुरुप मदिर मे प्रवेश कर चुके थे। वे चोर को बन्दी बनाकर ले गए।

दुर्बल और अकर्मण्य व्यक्ति को दैवी शक्ति का भी सहारा नही मिल पाता, तब भला कोई मानवी शक्ति उसका आलम्बन कैसे बन सकती है? सहयोग उसी को मिलता है, जो कुछ करता है। इस तथ्य को सामने रखकर कुछ क्रान्तिकारी महापुरुषो ने महिला जाति की ज्ञानचेतना और कर्मचेतना को जागृत किया। भगवान् ऋषभ ने पुरुष के लिए बहत्तर कलाओ का निरूपण किया तो स्त्री को चौसठ कलाओ मे निष्णात होने की प्रेरणा दी। इससे महिलाओ का जीवन विश्वास की सुगन्धियो से भर उठा। उन्होने अपनी खोज की यात्रा मे पादन्यास किया। कभी उन्हे आगे बढने का प्रोत्साहन मिला तो कभी पीछे धकेला गया। कुल मिलाकर महिलाओ का सामाजिक या राष्ट्रीय व्यक्तित्व विकसित नही हो पाया।

बन्द खिडकियो से क्या देखे

एक समय था, हमारे समाज की महिलाए शिक्षा के क्षेत्र मे बहुत पीछे थी। प्रबुद्धता तो बहुत आगे की बात है, उनमे साक्षरता भी नही थी। सामाजिक कुरूढियो और परम्परागत अन्धविश्वासो की पकड इतनी मजबूत थी कि कोई भी महिला इधर-से-उधर नही हो सकती थी। महिलाए आत्मनिर्भर हो सकती है, यह बात कल्पना से बाहर की थी। चिन्तन और अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे उनके

अधिकार जितने सीमित थे, उतनी ही सीमाए उनकी बौद्धिक चेतना के लिए की दिशा मे थी। इन सब परिस्थितियो मे महिलाए इतनी दब गयी थी कि दुनिया को देखने के लिए उनके पास अपनी ही खिडकिया थी। वे खिडकिया प्राय बन्द रहती थीं, इसलिए दुनियादारी से उनका कोई वास्ता ही नहीं था।

लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व हमने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। इसका उद्देश्य है—मानव को आत्मसयम की ओर अग्रसर कर समाज मे नैतिक मूल्यों की स्थापना करना। केवल पुरुष वर्ग के द्वारा मूल्य-स्थापना का यह काम होगा तो उसमें पूर्णता नही आयेगी तथा महिला-जागरण के विना समाज-जागरण का स्वप्न पूरा नही हो सकेगा, यह सोचकर महिला-जागरण का अभियान शुरू किया गया। दृढ सकल्प के साथ उस अभियान को शुरू करते ही जागरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी। महिलाओ मे शिक्षा के प्रति आकर्षण वढ़ा, अर्थहीन परम्पराओं के प्रति मोह कम हुआ, अधविश्वासो की पकड शिथिल हुई, स्वतन्त्र रूप मे सोचने की क्षमता वढी और आगे वढने के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। उस मार्ग पर चलने के लिए जिस जागरूकता, आत्मविश्वास और साहस की जरूरत है, वह अभी तक कम महिलाओ मे आ पाया है। फिर भी मेरा यह विश्वास है कि आगे आने वाले कुछ ही वर्षो मे महिलाओ मे नयी चेतना का सचार होगा और उनके कार्यक्रमो से समाज को वड़ा लाभ मिलेगा।

प्रारम्भिक कार्यक्रम

महिला-चेतना का जागरण और महिलाओ की क्षमता का सामूहिक उपयोग करने के लिए उन्हे एक मच देने की आवश्यकता अनुभव हुई। तेरापथ महिला मण्डल की स्थापना इसी अपेक्षा की पूर्ति के लिए हुई। देश-भर के विकेन्द्रित तेरापथ महिला सगठनो को केन्द्रित करने के लिए अखिल भारतीय स्तर पर तेरापथ महिला मण्डल सक्रिय हुआ। विगत एक दशक मे वह अपनी मन्द किन्तु व्यवस्थित गति से चल रहा है। जो-जो काम उसने हाथ मे लिये उन्हे जागरूकता के साथ पूरा करने का प्रयत्न किया गया। इससे महिलाओ की शक्ति के प्रति मेरा विश्वास वढा है। महिला-सगठनो ने अव तक जो कुछ किया है, उसे ध्यान मे रखकर अग्रिम दशक के प्रारम्भ मे उन्हे योजनावद्ध रूप से कुछ काम हाथ मे लेने है। उनमे एक त्रिसूत्री कार्यक्रम यह हो सकता है—

- शक्ति-जागरण
- परिवार-निर्माण
- कार्यकर्ता-निर्माण

इन कार्यक्रमो को क्रियान्वित करने के लिए समय-समय पर आवश्यकतानुसार गोष्ठियो और परिचर्चाओ का आयोजन किया जाए तो सहज रूप मे

अनुरूप वातावरण तैयार हो सकता है। वातावरण बनाये बिना किसी भी काम मे अविलम्ब सफलता मिल सके, यह बहुत कठिन बात है।

शक्ति-जागरण के सूत्र

- महिलाओ मे शिक्षा का विकास।
- स्वावलम्बन या आत्मनिर्भरता का विकास।
- अपनी समस्याओ को सही नजरिए से देखने और समझने की क्षमता का विकास।
- अपने प्राकृतिक गुणो का पूरा-पूरा मूल्याकन।
- अपने स्वरूप की सम्पूर्ण रूप से पहचान।

परिवार-निर्माण के सूत्र

- सामूहिक जीवन मे शान्त सहवास का प्रयोग।
- जीवन को अन्तरग और बहिरग, दोनो ओर से स्वस्थ रखने का प्रयोग।
- वेशभूषा, रहन-सहन, भोजन आदि मे सयम और स्वच्छता का प्रयोग।
- बच्चो के सस्कार-निर्माण की दृष्टि से पारिवारिक स्तर पर धार्मिक अनुष्ठानो का प्रयोग।
- पारस्परिक स्पष्टता और विश्वास को अर्जित करने के लिए तथा कुठा-निवारण के लिए नियमित रूप से गोष्ठियो का प्रयोग।

कार्यकर्त्ता-निर्माण के सूत्र

- सहिष्णुता का सकल्प
- गोपनीयता का सकल्प
- रूढि-मुक्त रहने का सकल्प
- दूसरो की आलोचना न करने और अपनी आलोचना से निराश न होने का सकल्प।
- अपनी धार्मिक आस्थाओ के प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पित रहने का सकल्प।

इस त्रिसूत्री कार्यक्रम की सफलता के लिए महिला-सगठनो को सुनियोजित रूप मे काम करने की अपेक्षा है। सगठनो से जुडी हुई हर महिला अपने दायित्व को समझे, अपने समय और चिन्तन का सामूहिक उपयोग करे और अपनी अनुभव-सपदा से कार्य-पद्धति को नया निखार दे। अतीत मे जो विशिष्ट महिलाए हो गई है, उन्हे आदर्श के रूप मे सामने रखकर वैसा बनने और बनाने का प्रयत्न किया जाए। एक निश्चित लक्ष्य के साथ निश्चित दिशा मे सामूहिक अभियान करके महिलाए अपनी मजिल तक पहुचे, और नयी सभावनाओ के द्वार खोले, यह आवश्यक है।

अतीत का विसर्जन । अनागत का स्वागत

आज मेरे सामने महिला के अनेक रूप उभर रहे है। एक समय था जब वह एक सजी हुई गुडिया के रूप मे रहती थी। सोने-चादी और हीरे-पन्ने के आभूषण गोटे-किनारी, तारी आदि से चमचमाते हुए वस्त्र, एक हाथ लम्बा घूघट और यान्त्रिक जीवन—यह है उसके वाहरी परिवेश का स्वरूप। भीतर झाककर देखे तो पर उसकी जो आकृति उभरती, उसमे सस्कारो की रूढता, अन्धविश्वास, अशिक्षा कुरूढियो और हीन-भावना की रेखाए स्पष्ट रूप मे परिलक्षित होती थी। युग ने करवट ली। समाज के मूल्य-मानको मे परिवर्तन आये। मनुष्य का दृष्टिकोण वदला और रूढ परम्पराओ मे चिन्तनपूर्वक परिवर्तन करने का लक्ष्य स्थिर हो गया। उस समय भी महिला-जागृति की बात एक स्वप्न-सी प्रतीत हो रही थी।

महिला-जागृति के अभियान को आगे वढाने के लिए सामाजिक और राजनीतिक कार्यकर्ता आते, अपनी वात सुनाते, किन्तु महिलाए उन्हे सुनने-समझने के मूड मे नही थी। उन्होने तव तक उन वातो को नही सुना, जव तक धर्मगुरुओं ने उस ओर अपना ध्यान केन्द्रित नही किया। आखिर हमने सोचा कि युग के अनुरूप समाज का पथ-दर्शन नही होगा तो समाज पिछडता जाएगा और उस पिछडेपन का श्रेय मिलेगा धर्म को, धर्माचार्यों को और धर्म की विशद परम्परा को।

धर्म-गुरुओ का काम सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या आदि की प्रेरणा देना ही नही है, समाज के नैतिक और सास्कृतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा के साथ सामाजिक मूल्यो के परिष्कार का दायित्व भी उन्ही पर होता है। क्योंकि किसी भी समाज मे धर्मगुरु के निर्देश का जितना पालन होता है, किसी का नही होता। दूसरी वात यह है कि धर्म का सम्बन्ध जीवन के समग्र विकास मे है, इस दृष्टि से महिला विकास के कार्यक्रमो पर भी ध्यान देना जरूरी हो गया।

तव और अव की नारी मे परिवर्तन आया है। पर देखना यह है कि वह परिवर्तन अपने चिन्तन एवं विवेक से कितना आया है, और प्रभाव एव दबाव से

कितना आया है। जब तक महिला समाज मे अपने विवेक से परिवर्तन नही आएगा, तब तक उसका अधिक महत्त्व नही होगा। महिलाओ का कर्त्तव्य है कि वे अपने जीवन मे आ रहे परिवर्तन को विवेक के साचे मे ढाले, अन्यथा उसका विकास प्रवाहपालिता से अधिक मूल्यवान नही हो सकेगा।

आज का महिला-समाज प्रबुद्ध हो रहा है। शिक्षा उसके चिन्तन के विकास मे निमित्त बन रही है। अब वह अपने सम्यक् चिन्तन से विवेक को जागृत कर भले-बुरे की पहचान करने लगा है। अपने हितो के बारे मे वह सजग हो रहा है। उसकी यह सजगता ही उसे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर कर सकेगी।

भारत की स्थिति का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि यहा के जन-जीवन मे अनुकरण की प्रधानता है। यहा का मनुष्य और विशेषरूप से महिला प्रतिक्रियापूर्ण जीवन जीती है। वह क्रिया नही, प्रतिक्रिया करती है। इसीलिए उसने वेश बदला है, पर साथ-साथ फैशन को अपनाया है। क्योकि यह प्रतिक्रिया है। मेरा अभिमत यह है कि केवल प्रतिक्रियात्मक जीवन अच्छा नही होता। कोई भी तत्त्व या स्थिति आपके सामने आए, आप उसका अकन करे, अच्छे और बुरे का विवेक करे, स्वय न कर सके तो दूसरो का मार्गदर्शन लें। सही चिन्तन कही से मिले, उसे स्वीकार करने मे हित की ही सम्भावना रहती है।

समाज की महिलाओ ने हमारे चिन्तन को समझा है, स्वीकार किया है और उसके अनुरूप आचरण किया है। इसी का परिणाम है कि आज बहनो के काले वस्त्र भी छूट गए। जब तक परिवर्तन की बात सामने नही आयी, विधवा बहने काले वस्त्रो मे घुट-घुटकर अपनी जिन्दगी बसर करती थी। उनका समाज मे अवमूल्यन हो गया था। उन्हे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। अपशकुन मानकर उनका अपमान किया जाता था और मागलिक अवसरो पर उन्हे घर के किसी कक्ष मे रहने के लिए विवश किया जाता था। इस स्थिति को महिलाओ ने सहज भाव से अपने ऊपर ओढ लिया और किसी भी विशेष प्रसग पर दूर रहने का स्वभाव बना लिया।

बहुत वर्ष पहले की बात है, मै एक गाव से प्रस्थान कर रहा था। प्रस्थान से पूर्व एक वृद्धा महिला मेरे सामने थी, महिला क्या थी, धर्म की प्रतिमूर्ति थी। प्रस्थान के समय वह सामने से हट गयी। मैने पूछा—'माताजी कहा गयी ?' पास मे खडी बहने मौन हो गयी। मैने फिर पूछा तो वे सकुचाती हुई बोली—'आप प्रस्थान कर रहे है, इसीलिए वह पीछे चली गयी। आप अच्छे शकुन लेकर प्रस्थान करे।' बात समझ मे अब आयी। मैने कहा—'आज मुझे इस कुरूढि को समाप्त करना है। जब तक वह बहन सामने आकर दर्शन नही करेगी, यहा से प्रस्थान

नही होगा।' बहन कसमसा रही थी, आखिर वह आगे आयी, तब [illegible] प्रस्थान किया। इस घटना के बाद ऐसे सस्कार धीरे-धीरे क्षीण होते गए।

संस्कारो की रूढता के साथ हीन भावना भी एक तत्त्व है जो महिलाओं की प्रगति मे बाधक है। महिलाएं यह सोचती है कि हम औरतें क्या कर सकती है? यह चिन्तन ही उन्हे कमजोर बनाने वाला है। रामायण का एक प्रसंग है—सीता का अपहरण हो गया। खोज करने पर पता लगा कि सीता का अपहरण रावण ने किया है और वह लका मे है। अब प्रश्न यह उठा कि लका जाकर सीता का सवाद कौन लाए? यह सुनकर सब मौन हो गए। सुग्रीव [illegible] किसी ने वहा जाने की हिम्मत नही की। उस सभा मे बूढा बन्दर जाम्बवान उपस्थित था। उसने हनुमान की ओर देखकर कहा—'हनुमान! देखता [illegible] लंका जाने का आह्वान है। तुम इसे स्वीकार क्यो नही कर लेते?' हनुमान [illegible] क्षण सहमता हुआ-सा बोला—क्या मैं लका जा सकूगा? जाम्बवान ने हनुमान को उत्तेजना देते हुए कहा—

कवनहु काज कठिन जग माही।
जो नहिं होहि तात! तुम पाही॥

'ऐसा कौन-सा काम है, जिसे तुम नही कर सकते।' इस एक वाक्य ने हनुमान को जगा दिया। वह लका गया। वह केवल सीता का सवाद लेकर ही नहीं आया, लका को जलाकर आ गया। महिलाओ को न तो लका जाना है और न लका जलाना है, पर उन्हे अपनी शक्ति को जगाना है। महिलाए सब कुछ कर सकती है, इस सूत्र को सामने रखकर काम करना है।

महिलाए राजनीति के क्षेत्र मे काम करें या नही, व्यवसाय मे प्रगति करें या नही, परिवार को सस्कारी बनाने का काम उन्हे करना है। भारतीय नारी [illegible] भी अपने बच्चो को अच्छे ढंग से सम्भालती है और उन्हे सस्कारित करती है। इसके लिए उसे शान्त, सहनशील और गम्भीर होने की जरूरत है। जिस प्रकार वह अपनी गलती को शान्ति से सह लेती है, उसी प्रकार अपनी बहू-बेटियों [illegible] भी सहन करना है, अन्यथा उनके जीवन मे दोहरे सस्कार और दोहरे [illegible] सक्रिय हो उठेंगे।

पिता-पुत्र ड्राइग-रूम मे बैठे थे। रसोईघर मे बहनें काम कर [illegible] सहसा काच का बर्तन टूटने की आवाज आयी। पिता ने पूछा—'बेटा! [illegible] हुआ?' पुत्र बोला—'पिताजी! लगता है मा के हाथ मे कोई कांच [illegible] गिर पडा है।' पुत्र का यह कथन पिता को ठीक नही लगा। मा के हाथ से काच का बर्तन गिरा है, इसका क्या प्रमाण? सभव है वह बहू के हाथ से गिरा हो। अपने मन की इस बात को बाहर निकालते हुए पिता ने पुत्र से कहा—

'विना जानकारी अपनी मा पर दोषारोपण करते हुए तुझे शर्म नही आयी ?' भीतर जाकर देख, बर्तन किसके हाथ से गिरा है ? पुत्र ने रसोईघर मे जाकर देखा। वहा उसकी मा बिखरी हुई काच की किरचे इकट्ठी कर रही थी। वह लौटकर पिता के पास आया और बोला—'पिताजी ! बर्तन तो मा के हाथ से ही गिरा है।' पिता ने साश्चर्य पूछा—'बेटा ! भीतर जाकर देखे बिना ही तुमने यह बात कैसे जान ली ?' पुत्र बोला—'पिताजी ! घर मे किसी दूसरे के हाथ से कोई चीज गिरती है तो उसकी आवाज कुछ देर मे बन्द हो जाती है, पर उसके साथ ही उठी हुई मा की आवाज गूजती रहती है। आज बर्तन के गिरने की आवाज के साथ दूसरी आवाज नही आयी, तब मैंने जान लिया कि यह बर्तन मा के हाथ से गिरा है।'

यह एक ऐसा प्रसग है, जो सास और बहू के सम्बन्धो पर प्रकाश डालता है। बहू-बेटी के हाथ से भी नुकसान हो सकता है, पर उसके लिए सास या मा द्वारा आक्रोश करने का औचित्य क्या है ? बहू-बेटी की गलती को प्रेम और वात्सल्य के साथ बताया जाए तो उसका नतीजा कुछ दूसरा ही निकलता है।

विकास के लिए बदलाव और ठहराव दोनो जरूरी है। मौलिकता स्थिर रहे और उसके साथ युगीन परिवर्तन भी आते रहे, इस क्रम मे विकास का पथ प्रशस्त होता है। महिलाए अपने प्राकृतिक मौलिक गुणो को सुरक्षित रखती हुई युगीन सन्दर्भो को पहचाने, अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान का जीवन मे प्रयोग करे और अच्छी महिला का आदर्श उपस्थित करे। ऐसा करके ही वे अपनी स्वतन्त्र पहचान बना सकती है और शक्ति का समुचित उपयोग कर सकती है।

भारतीय नारी का आदर्श

एक समय था जब भारत की महिलाए जागृत थी, अपने दायित्व के प्रति [illegible]
थी। बीच मे सुषुप्ति का दौर चला, वे अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन हो गई।
अब फिर से जागृति की लहर आई है और वे विकास के दरवाजे पर [illegible]
रही है। जब तक भारतीय नारी-मानस मे निराशा, कुण्ठा और [illegible]
रही, प्रगति की तो बात ही क्या, गति की सभावना भी नही थी। इन दुर्बल [illegible]
पर विजय पाकर ही कोई आगे बढ सकता है। महिलाए आगे बढी है [illegible]
निर्विवाद है, पर अभी बहुत बढना बाकी है। अब तक पथ मिला है, [illegible]
दूर है। पथ और मजिल एक नही है। पथ पर चलना है और मजिल [illegible]
है।

कुछ महिलाए सोचती है कि हम अपनी मजिल को पा नही सकती, [illegible]
जीवन की सबसे बडी भ्रान्ति है। आशा और विश्वास के साथ पथ पर [illegible]
बढते रहे तो मजिल स्वय सामने आकर खडी हो जाएगी। इसके लिए उन्हें [illegible]
साधना और सेवा का आदर्श सामने रखकर चलना होगा। शिक्षा जीवन [illegible]
पहली अपेक्षा है। उसके बिना साधना अधूरी रहती है। साधना के बिना [illegible]
भावना विकसित नही हो सकती। जन्म के साथ ही सेवा का व्रत लेकर [illegible]
वाली महिलाए बडे से बडा काम कर सकती है। एक महिला दूसरी महिला [illegible]
विकास मे सहयोगी बने, यह बहुत बड़ी सेवा है। इसके साथ अमुक काम [illegible]
कर सकती हू, दूसरी कोई नही कर सकती—इस भ्रान्ति को दूर करना सबसे [illegible]
साधना है और काम करने के लिए नये-पुराने सभी प्रकार के तौर-तरीकों [illegible]
प्रयोग करना सबसे बडी शिक्षा है। शिक्षा, साधना और सेवा की [illegible]
किसी भी वर्ग को कहीं से कहीं पहुचा सकती है।

आज हमारे सामने हजारो महिलाए उपस्थित है और सभा [illegible]
है। लगता है महिलाओ ने उस व्यग्य को झूठा कर दिया—गोष्ठी मे प्रश्न [illegible]
पड़ा कि सबसे बडा झूठ क्या है? किसी ने कुछ कहा और किसी ने कुछ। [illegible]

भाई खडा होकर बोला—'एक बगीचे मे दो कुर्सिया बिछी थी। वहा दो महिलाए बैठी थी और दोनो चुप थी। इस घटना को सबसे बडा झूठ स्वीकार किया गया। किन्तु अब परिस्थितिया बदल गई है। हजारो-हजारो महिलाए एक साथ बैठकर चुप रह सकती है। यह बहुत बडी साधना है।

मै महिलाओ का ध्यान एक बात की ओर आकृष्ट करना चाहता हू कि वे और कुछ सीखे या न सीखे, भारतीय सस्कृति को न भूले। भारतीय सस्कृति क्या है ? वह है अध्यात्म। अध्यात्म हमारे देश की विशिष्ट थाती है। दूसरे देशो के लोग यहा अध्यात्म सीखने के लिए आते थे। इसी सन्दर्भ मे कहा जाता था—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन.।
स्व स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ॥

ससार के सब लोग भारत आकर अध्यात्म या चरित्र की शिक्षा ग्रहण करे। क्या इस बदलते भारत के पास वह कुछ भी नही है, जिसकी ससार को अपेक्षा है। मेरा यह दृढ विश्वास है कि भारत अपनी मूल स्थिति मे लौटेगा और यहा से अध्यात्म की शिक्षा का समुचित ढग से निर्यात होगा।

भारतीय नारी का इतिहास भी कम प्रेरणाप्रद नही है। अनेक महिलाओ की प्रेरक और उद्बोधक कहानिया हम सुनते है। उनके साथ मै दो नाम जोडना चाहता हू। उनमे पहला नाम है महारानी कमलावती का। इषुकार राजा की पत्नी महारानी कमलावती ने अपने पति का सही मार्गदर्शन कर एक नये इतिहास को जन्म दिया। घटना इस प्रकार है—

इषुकार नगर मे भृगु नामक राजपुरोहित अपनी पत्नी यशा और दोनो पुत्रो के साथ प्रव्रजित होना चाहता था। उसके पास अपार धन-सम्पदा थी। परिवार मे कोई था नही, इस दृष्टि से उस सम्पदा पर राजा का अधिकार था। राजा के पास सूचना पहुची। वह प्रसन्न हुआ। उसने राजपुरुषो को आदेश दे दिया कि पुरोहित की सारी सम्पदा राजकीय भण्डार मे ले ली जाए।

महारानी कमलावती महलो मे थी। उसे ज्ञात हुआ कि पुरोहित जिस सपदा को छोडकर साधु बन रहा है, राजा उसमे अपने भण्डार की वृद्धि करना चाहता है। कमलावती का मन ग्लानि से भर गया। उसने अनुरोध किया कि महाराज महलो मे पधारे। राजा व्यस्त था इसलिए जा नही सका। कमलावती बेचैन हो रही थी। उसने दोनो ओर कनाते लगवाकर राजसभा मे जाने का निर्णय लिया। राजसभा मे पहुचकर वह बोली—'राजन् ! आप क्या कर रहे है ?' राजा ने कहा—'भण्डार भर रहा हू।' रानी ने फिर प्रश्न किया—'कैसे ?' राजा का उत्तर था—'पुरोहित की सम्पत्ति से।' रानी का अगला प्रश्न था—'क्यो ?' इस प्रश्न के उत्तर मे राजा बोला—'पुरोहित सपरिवार सम्पत्ति छोडकर साधु बन रहा है।

उसकी सम्पत्ति का कोई वारिस नही है, इसलिए उस पर हमारा अधिकार हो गया है।'

यह सुनकर महारानी बोली—'राजन्! पुरोहित सम्पत्ति को छोड़ रहा है और आप उसे बटोर रहे है! राजन्! मेरी बात मानो, आप वमन मत खाओ। दूसरी बात—पुरोहित के पास सम्पत्ति आई कहा से? आपने दान-दक्षिणा मे जो कुछ दिया, वही तो उसके पास है। क्या दी हुई सम्पत्ति को वापस लेना आपका धर्म है?'

महारानी कमलावती के शब्दो ने राजा इषुकार की चेतना को झकझोर डाला। उसे अनुभव हो गया कि वह गलत रास्ते पर है। उसने अपनी गलती का प्रायश्चित्त करने के लिए उस पुरोहित की सम्पत्ति ही नही छोडी, समूचा राज वैभव छोडकर साधु बनने का निर्णय ले लिया। भोग के पथ को छोड त्याग के महान् पथ पर अग्रसर होकर महाराज इषुकार अमर हो गया।

दूसरी घटना है महासती चन्दनबाला की। महाराज दधिवाहन और रानी धारिणी की अप्सरा-सी कन्या चन्दना। नियति का योग। वह बाजार मे बिकी। सेठ धनावाह ने उसको खरीदा। सेठ ने उसे बेटी बनाकर रखा। पर उसकी ईर्ष्यालु पत्नी के मन मे सन्देह का अकुर उग आया। उसने अवसर देख सौतिया डाह से चन्दना को विद्रूप कर दिया। सेठ उस समय बाहर था। तीन दिन के बाद वह घर पहुंचा। चन्दना की स्थिति देख सेठ का मन काप उठा। उसने पूछा—'बेटी! तुम्हारे साथ ऐसा सलूक किसने किया?' चन्दना बोली—'पिताजी! किसी का दोष नही है। मेरे अपने कर्मों का दोष है।' सेठ ने अनेक बार पूछा, किन्तु चन्दना ने अपनी ईर्ष्यालु और क्रूर स्वामिनी मूला का नाम नहीं बताया। सहिष्णुता का कितना बडा आदर्श? क्या कोई भी स्त्री इतना बर्दाश्त कर सकती है? लाछित करने वाली के नाम को अज्ञात रख सकती है? कितना उच्च आदर्श है!

यह गम्भीरता, यह सहनशीलता नारी-जीवन का महान् गुण है। तकलीफों मे उफ तक न करना, शारीरिक और मानसिक यत्रणाओ को चुपचाप सहन कर लेना, बहुत बडा काम है। महिलाओ को मैं सुझाव देना चाहता हू कि वे आगे बढ़े, प्रगति करे, स्वतंत्र बने, अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार करें, पर अपने मौलिक गुणों को विस्मृत न करे। मौलिकता को सुरक्षित रखने वाली महिलाए ही भावी प्रगति के नये आयाम खोल सकेंगी।

अनेकता में एकता का दर्शन

भारतीय सस्कृति धर्मप्रधान सस्कृति है। धर्म का अर्थ है अधकार से प्रकाश की यात्रा। ससार मे दो प्रकार के व्यक्ति है। कुछ व्यक्ति प्रकाश की खोज मे रहते हैं और कुछ प्रकाश को देखकर आखे मूद लेते है। प्रकाश की खोज मे निकले हुए व्यक्ति ही धर्म को समझ सकते है और पा सकते है। धर्म का आमन्त्रण प्रकाश के सम्मुख होने का आमन्त्रण है, अन्तर्मुखी बनने का आमन्त्रण है। धर्म आत्मा का तत्त्व है। आत्मा का कोई रूप नही होता। धर्म का भी कोई रूप नही है। अरूप सत्ता को पहचानना बहुत मुश्किल है। इसलिए हमारे पूर्वजो ने धर्म को भी नाम और रूप देकर सर्वसाधारण की बुद्धि का विषय बना दिया। नाम और रूप से अनुबन्धित धर्म ने अलग-अलग सम्प्रदायो के रूप मे अपनी पहचान बना ली।

सम्प्रदाय का अर्थ है गतिशील परम्परा। किसी भी परम्परा मे जब तक गतिशीलता रहती है, उसका स्वरूप विकृत नही होता। परम्परा को रूढ बनाने से साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। धर्म और सम्प्रदाय दो अलग-अलग तत्त्व हैं। धर्म मूल है, सम्प्रदाय उसे प्राप्त करने का माध्यम है। धर्म सम्प्रदाय के लिए नही होता। सम्प्रदाय धर्म को पाने के लिए होता है। जैन धर्म एक अखण्ड तत्त्व है। वह सम्प्रदायो और उपसम्प्रदायो के अस्तित्व के घेरे मे है। घेरे का हर खभा मजबूत है और उसकी अलग पहचान है। अपनी पहचान को और अधिक स्पष्ट बनाने के लिए उन खम्भो की लिपाई-पुताई बहुत अच्छे ढग से हो रही है, पर उनको आपस मे जोडने वाली दीवार इतनी कच्ची है कि वह हवा के छोटे से झोके से काप उठती है। उस कापती हुई दीवार के वे खम्भे इतने अकेले-अकेले दिखाई देते है कि उनको जोडने या एक करने का स्वर बार-बार सुनाई देता है। जैन एकता या जैन समन्वय की बात यही से शुरू होती है।

एकता और समन्वय इन दो शब्दो मे बहुत नजदीकी रिश्ता है, पर ये दोनो एक ही अर्थ के बोधक नही है। एकता का अर्थ है—भिन्न-भिन्न अस्तित्वो का एकीकरण और समन्वय का अर्थ है—परस्पर सामजस्य स्थापित करना। यदि

हम एकता शब्द को समन्वय या सामंजस्य का वाचक स्वीकार कर लें तो [illegible] शब्दों मे से किसी भी शब्द के प्रयोग पर किसी को आपत्ति नही हो सकती। जहा एकता शब्द को एकीकरण का ही वाचक माना जाता है, वहा जैन [illegible] के आगे कुछ प्रश्नचिह्न खड़े हो जाते है।

जैन धर्म के सब सम्प्रदायों को एक कर देने की बात अव्यावहारिक होने के साथ-साथ कठिन भी बहुत है। जहा परस्पर विचार-भेद की स्थिति मौजूद है, वहा एकत्व कर दिया जाए तो भी लाभप्रद नही होगा। हाथ की पाच अगुलिया अपने-अपने स्थान मे अलग रहती हुई कार्यकारी हो सकती हैं। उन सबको एक बना दें तो उनकी कार्यक्षमता समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार सब सम्प्रदायों के एकीकरण में लाभ की सम्भावना प्रतीत नही होती।

मनुष्य के मस्तिष्क में स्वतन्त्र सोचने की शक्ति है। जब तक यह शक्ति है, हर मनुष्य अपने ढग से सोचेगा। सोच का आधार और क्रम भिन्न होगा [illegible] विचार-भेद रहेगा ही। विचार-भेद की स्थिति ही सम्प्रदायो की सर्जक है। मेरी विनम्र राय के अनुसार सम्प्रदाय-भेद होना कोई गलत बात नही है। [illegible] का अकुरण होता है सामंजस्य के अभाव मे। जैन विचारधारा ससार भर के विभिन्न विचारो मे सामजस्य स्थापित कर सकती है। एक ओर इतनी क्षमता, दूसरी ओर जैन सम्प्रदायो मे भी सामजस्य की कमी। यह कितनी हास्यास्पद और विचारणीय बात है।

दिगम्बर-श्वेताम्बर, मूर्तिपूजक-अमूर्तिपूजक, स्थानकवासी-तेरापथी—जैन धर्म की इन प्रमुख शाखाओ में विचार-भेद को नकारना अज्ञान का सूचक है। बुद्धिमत्ता इस बात मे है कि जिन बिन्दुओ पर उक्त सभी सम्प्रदाय सामञ्जस्य स्थापित कर सके, करें। अनेकान्तवाद के सहारे विरोधी स्थितियों मे भी अविरोध को निष्पन्न किया जा सकता है। फिर हमारे सामने ऐसी कौन-सी विवशता है, जो हमे अविरोधी बिन्दुओ पर भी मिलने नहीं देती। अब भी समय है, हम लोग सोचे, समझें और समन्वय को जीना सीखें। अपनी पीढ़ी के लिए, नही तो कम से कम भावी पीढ़ी के लिए ही एक प्रयत्न करें, उसे अच्छा भविष्य दें ताकि जैनत्व का गौरव सुरक्षित रह सके।

आज से ग्यारह वर्ष पूर्व भगवान महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर जैन समाज के मान्य प्रतिनिधियो ने मिल-बैठकर गम्भीर चिन्तन किया। निष्कर्ष रूप मे वे कुछ बिन्दुओ पर एकमत हुए। एक प्रतीक, एक [illegible] और एक ग्रन्थ को सर्वमान्य कराने की उस समय की उपलब्धि कम [illegible] नही है।

उस समय जो काम बाकी रहा, उसके बारे मे फिर चिन्तन की [illegible] पर वैसा नही हो सका। सकारण या अकारण ही उस काम म [illegible]

गया। यदि कुछ कदम भी आगे बढ पाते तो आज एकत्व की अनेक नयी दिशाए खुल सकती थी। नयी दिशाए नयी सम्भावनाओ को उजागर करती और जैन शासन की प्रभावना मे चार चाद लग जाते।

खैर, जो समय गया, वह गया। अतीत को छोडकर हम वर्तमान को देखे। वर्तमान का क्षण ही सबसे अधिक उपयोगी होता है। दूसरा क्षण आएगा, तब तक पहले क्षण का नाश हो जाएगा। अब हम एक भी क्षण को व्यर्थ खोए बिना अपने करणीय कामो के लिए एक बार फिर सचेतन प्रयत्न करे, यह अपेक्षा है। आज हमारे सामने अवसर है। इस समय सभी सम्प्रदायो के प्रबुद्ध आचार्यों, साधु-साध्वियो, श्रावको और विद्वानो मे समन्वय की भावना बल पकड रही है। इस अवसर का लाभ उठाकर हमे पारस्परिक फासले को कम करना है और कुछ रचनात्मक काम कर दिखाना है।

'जैन समन्वय प्रकोष्ठ' उक्त भावना को साकार करने के लिए उठाया हुआ एक कदम है। अमृत महोत्सव राष्ट्रीय समिति के अन्तर्गत इस प्रकोष्ठ ने बहुत शीघ्र ही 'जैन समन्वय सम्मेलन' बुलाने का निर्णय लिया है। दस और ग्यारह फरवरी १९८६ को होने वाले इस सम्मेलन के सन्दर्भ मे स्थान, समय तत्त्वावधान आदि को लेकर कई प्रश्न उठ सकते है। पर इन छोटे-छोटे प्रश्नो मे अपनी शक्ति को न लगाकर एक बार हम इसी बिन्दु पर मिले कि कही से काम का प्रारम्भ तो हो। मुझे लगता है कि यह जो छोटा-सा कदम उठाया गया है, शुद्ध एव व्यापक दृष्टि से सामजस्य स्थापित करने के लक्ष्य को सामने रखकर ही उठाया गया है। प्रसन्नता इस बात की है कि इसे अधिकृत रूप से सभी आचार्यों, सन्तो, विद्वानो, चिन्तको और पत्रकारो द्वारा महत्त्व दिया जा रहा है। इससे आशा की एक किरण फूटी है और कुछ हो सकने की भावना पुष्ट हो रही है।

जैन समन्वय के इस प्रथम चरण मे हम सवत्सरी एक कैसे हो? और पूरे जैन समाज का एक मच कैसे हो? इन दो बिन्दुओ को मूल आधार मानकर चले। इन दोनो मे हमे सफलता मिली तो आगे के चरणो मे काम करने की सुविधा रहेगी और हमारा उत्साह भी बढेगा। इसके अग्रिम चरण कब, कहा और कैसे हो सकते है? इस सम्बन्ध मे सबकी सुविधाओ को ध्यान मे रखकर ही हमे कोई निर्णय लेना है। हमारे सामने यह इतना बडा और महत्त्वपूर्ण काम है कि इसे पूरा करने मे हम अपनी साम्प्रदायिक सकीर्णता को आडे न आने दे। जिस उदात्त भावना से इस काम का चिन्तन, निर्णय और क्रियान्वयन हो रहा है, उतनी ही उदात्त भावना से हम इसके सुपरिणाम की प्रतीक्षा करे।

इस समय सारा ससार इक्कीसवी सदी मे प्रवेश करने की तैयारिया कर रहा है। हमारे देश मे भी इस सदी के कदमो की आहट सुनाई दे रही है। ऐसी स्थिति मे जैनो को भी सोचना है कि यदि वे विभक्त और खण्डित मानसिकता

के साथ अगली सदी मे प्रवेश करेंगे तो उनकी आने वाली पीढी क्या [illegible] व्यक्तिगत हितो और आग्रहो से ऊपर उठकर हम जैन धर्म की छवि को [illegible] सुथरी बनाने का प्रयत्न करें, अनेकता मे एकता स्थापित करें और उदार [illegible] से एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करे तो वह समय दूर नही रहेगा, [illegible] अपनी विकेन्द्रित शक्तियों को केन्द्रित करके सुनियोजित रूप से [illegible] और उससे पूरा जैन समाज लाभान्वित होगा ।

विश्व-मैत्री का पर्व । पर्युषण

प्रत्येक राष्ट्र, समाज और संस्थान के अपने सास्कृतिक मूल्य होते है। मनुष्य नश्वर होता है, पर सस्कृति एक अविनश्वर और कालजयी तत्त्व है। उसके अनेक अग है। उनमे धर्म का स्थान सर्वोपरि है। धर्म वह मानवीय मूल्य है जिसके द्वारा जीवन को उसकी आन्तरिक गहराइयो के परिप्रेक्ष्य मे समझा और जिया जा सकता है। इस धरती पर जितने अवतार, तीर्थंकर या धर्मप्रणेता हुए है, उन सबने धर्म का प्रवर्तन किया है, बल्कि यो कहना चाहिए कि धर्म-प्रवर्तन उनकी नियति रही है। उन्होने धर्म का प्रवर्तन तो किया, पर किसी धर्म-सम्प्रदाय को जन्म नही दिया। आगे चलकर वही धर्म एक सम्प्रदाय का रूप ले लेता है, यह भी एक नियति है। कोई भी धर्म जब सम्प्रदाय के रूप मे परिणत हो जाता है, तब धर्म का तत्त्व गौण हो जाता है और उसमे विकृतियो का प्रवेश शुरू हो जाता है। जब वे विकृतिया धर्म पर हावी हो जाती है, तब फिर कोई धर्म-प्रवर्तक जन्म लेता है और धर्म की नयी धारा का सूत्रपात करता है।

धर्म जीवन का अन्तरग तत्त्व है। उसके लिए अतिरिक्त प्रेरणा की कोई अपेक्षा नही होनी चाहिए। फिर भी लोक-चेतना मे आयी सुषुप्ति को तोडने के लिए बार-बार प्रेरणा दी जाती है। इस दृष्टि से धार्मिक क्षेत्र मे पर्व और त्योहारो की परम्परा डाली गयी। भगवान महावीर ने इस सन्दर्भ मे पर्युषण महापर्व की स्थापना की। यह पर्व आठ दिन का होता है और इसका आठवा दिन 'सवत्सरी' कहलाता है। जैन शासन मे यह सबसे बड़ा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व है, इसीलिए इसे 'पर्युषण महापर्व' कहा गया।

पर्युषण महापर्व के साथ कुछ किवदन्तिया और कल्पनाए जुडी हुई हैं, किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक आधार नही मिलता। 'निशीय सूत्र' के भाष्य मे पर्युषण के पर्याय शब्दो का विवेचन है। उसके द्वारा इस महापर्व के स्वरूप को उजागर किया जा सकता है और इसकी उपयोगिता को समझा जा सकता है।

पर्युषण के अनेक अर्थों मे एक अर्थ है—अवस्थिति। अवस्थिति यानी रहना।

काल के परिप्रेक्ष्य मे चार मास की अवस्थिति पर्युषण है। क्षेत्र के परिप्रे
चार कोस तक की सीमाएं प्रचलित थी। इसका एक अर्थ है आत्मा मे स्थि
होना। मेरे अभिमत से इसका आत्मस्थिति वाला प्रायोगिक रूप अधिक
मूल्यवान् है। आत्मस्थिति का अर्थ है—अपने आप मे रहना। इसके लिए
तपस्या, खाद्य-सयम आदि अनुष्ठानो के साथ मानवीय मूल्यो की जागरूक
आराधना बहुत जरूरी है। मानवीय मूल्यो को शब्दो की सीमा मे बांधना कठि
है, फिर भी हमारे आचार्यो ने दस धर्मो को सामने रखकर आत्माराधना का
उपक्रम स्थिर किया है। उन धर्मों मे सहिष्णुता, अनासक्ति, ऋजुता, मृदु
संयम, सत्य आदि सार्वभौम तत्त्वो का समावेश है।

इन मूल्यों की उपयोगिता के सन्दर्भ मे विचार किया जाए तो कहा
सकता है—पर्युषण-पर्व की परम्परा एक वैज्ञानिक परम्परा है। चातुर्मास
प्रारम्भ मे दो मास का समय जठराग्नि की मन्दता का समय है। इस समय
उपवास या खाद्य-सयम का प्रयोग आत्महित के साथ स्वास्थ्य-साधना मे भी
निमित्त वनता है।

असहिष्णुता इस युग की सबसे वडी समस्या है। थोडी-सी प्रतिकूलता
व्यक्ति अपना सन्तुलन खो देता है। सन्तुलन छूटा कि उत्तेजना बढी। पर्यु
उत्तेजना पर नियन्त्रण करना सिखाता है। इस दृष्टि से यह कषाय-शमन
पर्व है।

जैन समाज मे पर्युषण पर्व का इतना आकर्षण है कि कभी धर्माराधना
करने वाले व्यक्ति भी इस पर्व के समय आत्मोन्मुख बनते हैं। कभी साधु-साध्वि
के पास नही जाने वाले व्यक्ति भी सवत्सरी के दिन अपनी उपस्थिति को अनिवा
समझते है। इस दृष्टि से यह सामाजिक सगठन का पर्व है।

व्यवसायी लोग अपने आय-व्यय का पूरा हिसाव रखते है। यह हिसाब
के स्तर पर होता है। आत्मा के स्तर पर भी लाभ और अलाभ का
रखना जरूरी है। यह हिसाब प्रतिदिन किया जाए तो बहुत अच्छी बात है
संवत्सरी के अवसर पर तो करना ही चाहिए। स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति
के लिए यह वहुत आवश्यक है। इस दृष्टि से पर्युषण आत्मालोचन का पर्व है।

आत्मालोचन वह व्यक्ति कर सकता है, जो ऋजु है। ऋजुता के दर्पण मे
अच्छे और वुरे कर्मो का सही प्रतिबिम्ब आ सकता है। उस प्रतिबिम्ब को
अपनी भूलो का प्रायश्चित्त स्वीकार करना और भविष्य मे उन भूलों को
दुहराने का सकल्प करना पर्युषण पर्व को मनाने की सार्थकता है। इस दृष्टि
यह सकल्पाभिव्यक्ति का पर्व है।

पर्युषण-पर्व का सर्वाधिक आकर्षक अनुष्ठान है—'खमतखामणा'।
अर्थ है क्षमा का आदान-प्रदान। व्यक्ति दूसरे के प्रतिकूल व्यवहार

करे तथा अपनी ओर से ऐसा व्यवहार न करे जो दूसरो के लिए पीडादायक हो। यदि जाने-अजाने मे ऐसा व्यवहार हो गया हो तो उसके लिए क्षमा मागकर तथा अपनी ओर से क्षमा देकर हल्कापन अनुभव करे। यह आत्मशोधन की सामान्य प्रक्रिया है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो समग्र मानवजाति के लिए कल्याणकारी है।

'खमतखामणा' की सहज प्रक्रिया यह है कि जिस समय किसी के प्रति दुर्भावना आ जाये या दुर्व्यवहार हो जाये, उसी समय क्षमा का आदान-प्रदान हो जाये। उस समय सम्भव न हो तो उस दिन इस प्रक्रिया को सम्पन्न कर ले। किसी कारण से वह दिन टल जाये तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के समय तक खमतखामणा कर ले। पक्ष पूरा हो जाने पर भी मन का शल्य न निकल सके तो चातुर्मास का अतिक्रमण न करे। चातुर्मास का समय भी बीत जाये तो पर्युषण पर्व की सम्पन्नता तक तो मन का ग्रन्थि-मोचन कर ही लेना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति सवत्सरी महापर्व पर भी क्षमा का आदान-प्रदान नही करता है तो वह अपनी धार्मिकता को समाप्त कर लेता है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थि-मोचन या 'फोरगिवनेस एण्ड फोरगेट फुलनेस' का पर्व है।

जैन धर्म मे पर्युषण पर्व का व्यापक महत्त्व है। इसके उपलक्ष मे एक साथ लाखो उपवास होते है। सैंकडो प्रवचन सभाए होती हैं और लाखो पत्रो का आदान-प्रदान होता है। अन्य पर्वो का महत्त्व कभी कम-अधिक भी हो जाता है, पर इसका महत्त्व उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। मानवीय मूल्यो की प्रतिष्ठा मे इसका विशेष योगदान है। इस पर्व को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जाए तो हिंसा, आतक और युद्ध की समस्या का स्थायी समाधान हो सकता है। इस दृष्टि से पर्युषण पर्व विश्व मैत्री का पर्व है। विश्व मानव के साथ तादात्म्य का अनुभव इसी पृष्ठभूमि पर हो सकता है।

बिन्दु-बिन्दु विचार

- शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व मानव जीवन का शाश्वत सत्य है। इस सत्य तक पहुंचने के लिए हर युग मे समन्वय की प्रासगिकता है।
- रूस और अमेरिका की शिखर वार्ता इस तथ्य को पुष्ट करती है कि समन्वय युग की माग है।
- जैन धर्म का प्रमुख सिद्धान्त है स्याद्वाद। स्याद्वाद विरोध मे अविरोध और अनेकता मे एकता का दर्शन है। यह दर्शन की भाषा है। व्यवहार के धरातल पर स्याद्वाद का अर्थ है समन्वय। जैन लोग अपने प्रमुख सिद्धान्त को समझे और जीवन मे उतारें। यह तभी सम्भव है, जब सब जैन परस्पर समन्वित और संगठित होकर रहे।
- जैन समाज की विकेन्द्रित शक्तियो को केन्द्रित कर उनका जीवन-निर्माण, समाज-निर्माण और राष्ट्र निर्माण मे उपयोग करने के लिए समन्वय जरूरी है।
- जैन धर्म के सब सम्प्रदाय अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी जैनत्व की मौलिक आस्थाओ को व्यापकता देने के लिए सामूहिक प्रयत्न कर सकें, इसलिए समन्वय आवश्यक है।
- सत्य, धर्म या सम्प्रदाय से बडा है, इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने के लिए समन्वय एक आलम्बन हो सकता है।

समन्वय क्या है ?

- समन्वय कोई सिद्धान्त नही, जीवन शैली है। इस पर चर्चा करने से नहीं, इसे जीने से ही कोई तत्त्व हाथ लग सकता है।
- हाथ की पाच अंगुलिया अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने पर भी एक हाथ से जुड़ी हुई है, यही समन्वय है।

- समन्वय मे किसी के अस्तित्व का विलय नही, उसकी सौहार्दपूर्ण स्वीकृति होती है।
- विरोधी विचारो और व्यक्तियो मे सामजस्य स्थापित करने की कला का नाम है समन्वय।
- अनाग्रह, धृति और सहिष्णुता की त्रिपगथा ही समन्वय का आधार है।
- समन्वय का अर्थ है व्यक्तिगत स्वार्थ, पूर्व धारणा और अह चेतना की गिरफ्त से मुक्त होकर खुले मन से एक-दूसरे के निकट होना।
  जैन समन्वय का मतलब सब जैन सम्प्रदायो का एकीकरण नही, उन सबमे सामजस्य की स्थापना है।

समन्वय कैसे ?

- साम्प्रदायिक सहिष्णुता और उदार दृष्टिकोण के द्वारा समन्वय साधा जा सकता है।
- जैन समाज के सवत्सरी महापर्व के सन्दर्भ मे जो विविधताए हैं, उन्हे एक बिन्दु पर ले जाना समन्वय की सबसे अच्छी शुरुआत हो सकती है।
- सवत्सरी की एकता के बारे मे चिन्तन और निर्णय का अधिकार किसी व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष को नही है। ऐसी स्थिति मे समग्र जैन समाज का प्रतिनिधित्व करने वाला एक 'समन्वय मच' स्थापित हो जाए तो समन्वय की दिशा मे एक-एक चरण आगे बढाया जा सकता हैं।
- जैन समन्वय के लिए कही से भी उठने वाले स्वर को बल देने के लिए अपनी ओर से कटिबद्ध रहना, प्रशस्त वातावरण निर्मित करने का एक उपाय है।
- व्यक्तिगत आग्रह को छोडकर जैन समाज के हित मे उठाए गए किसी भी प्रशस्त मुद्दे पर मुक्त भाव से सोचना यह भी समन्वय की शृखला मे एक कडी है।

समन्वय नही हुआ तो ?

- सवत्सरी महापर्व के सम्बन्ध मे शीघ्र ही कोई समन्वयात्मक निर्णय नही लिया गया तो समाज को युवापीढी के विद्रोह का सामना करना पडेगा।
- समन्वय के अभाव मे खण्ड-खण्ड मे मनाए जाने वाले सवत्सरी महापर्व के दिन राष्ट्रीय अवकाश की सुविधा कैसे मिलेगी ?
- एक ही परिवार की भिन्न-भिन्न परम्पराओ मे श्रद्धा रखने वाले सवत्सरी के दिन जिस मानसिक द्वन्द्व की स्थिति से गुजरते है, इससे छुटकारा कैसे हो सकेगा ?

- जैन लोग सवत्सरी जैसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर भी एकमत नही हो पाएंगे तो अन्य छोटे-बड़े प्रश्न चिह्नो को विराम कैसे दे सकेंगे ?

विचारणीय बिन्दु

- ऐसे सम्मेलन से क्या होगा ? इस प्रकार की आशंका को छोडकर इस सम्मेलन को औपचारिकता के दामन से निकाल कर यथार्थ का परिवेश देकर सफल बनाने का प्रयत्न करें ।
- इस सम्मेलन की आयोजना किसने की ? कहा की ? क्यो की ? इन प्रश्नो मे न उलझ कर इतना ही सोचें कि कही से एक प्रयास प्रारम्भ तो हुआ।
- समन्वय सम्मेलन की सफलता दलीलें एकत्र करने मे नही, ठोस धरातल पर काम करने मे है ।

आइए, हम एक बार पूरे मन से समन्वय सम्मेलन की सफलता के लिए मगल कामना करे और सम्मेलन के निर्णयो को क्रियान्वित करने के लिए शक्तिशाली अभियान चलाएं ।

कैसे हो मनोवृत्ति का परिष्कार ?

प्रश्न बचपन की धरती कागज की तरह स्वच्छ होती है। उस पर जैसी रेखाए खीची जाती है, वैसा ही चित्र उभर आता है। क्या आपके मस्तिष्क मे बाल-जगत के विषय मे कुछ नयी रेखाए खीचने की परिकल्पना है ?

उत्तर : बच्चा पूरी तरह से खाली होता है, यह एकागी दृष्टिकोण है। वह अपने साथ क्रोमोसोम (गुणसूत्र) और जीन्स (सस्कार-सूत्र) लेकर आता है। सामाजिक वातावरण और निमित्तो का प्रभाव होता है। किन्तु बच्चे के अपने सस्कार बीज उपादान होते है। उपादान और निमित्त—दोनो का समुचित योग होने से बालक के भविष्य का सुन्दर रेखाचित्र बनता है। इस दृष्टि से यह निष्कर्ष निकलता है कि सबके सब बच्चे सस्कारी हो ही जाएगे, यह चिन्तन सही नही है। कर्मो की सघनता हो तो प्रयत्न करने पर भी बालक को सस्कारी नही बनाया जा सकता।

कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी मेरा यह निश्चित विश्वास है कि सस्कारो की रेखा खीचने की सही स्लेट बचपन ही है। बहुत बच्चे ऐसे हो सकते है, जो अनुकूल वातावरण और प्रेरणा पाकर अच्छा विकास कर लेते है। इसके लिए बच्चो को गुरुकुल जैसी स्थिति मे रखकर सघन प्रयत्न करने की अपेक्षा है। बहुत सोचने पर भी गुरुकुल से बढकर कोई ऐसी पद्धति विकसित नही हुई है, जो बच्चो के सर्वागीण विकास मे सहयोगी हो। सस्कार-निर्माण की दृष्टि से स्कूलो से भी अधिक उपयोगी छात्रावास हो सकते ँन विश्व मे इस क्रम को प्रारम्भ करने की बात चल य देखरेख मे योजनाबद्ध तरीके से सस्कार- म च पीढी को आशा भरा उज्ज्वल भविष्य है।

प्रश्न . बाल जगत मे बढ रही गलत अ राधी

परिष्कृत करने के लिए धार्मिक मंच से भी कुछ सहयोग किया जा सकता है क्या ?

उत्तर : बच्चो मे अनुकरण की क्षमता बहुत होती है। वे जो कुछ देखते हैं, पढते हैं या सुनते है, उसे बहुत जल्दी पकड लेते है। वर्तमान का परिवेश उनके सामने जो चित्र उपस्थित करता है, वे अपने आपको उसी दिशा में ढाल लेते है। इस सन्दर्भ मे बच्चो के अभिभावको द्वारा बरती जा रही लापरवाही उनके गलत सस्कारो के लिए उत्तरदायी है। यदि अभिभावक सजग रहे और वे बच्चो को चरित्र की प्रेरणा देने वाले वीडिओ एव ऑडियो कैसेट दिखाए व सुझाए तो बच्चो मे अच्छी आदतो का निर्माण सम्भव है।

धार्मिक मंच का जहा तक प्रश्न है, वहा से भी कुछ रचनात्मक प्रवृत्तियो का संचालन हो सकता है। ध्यान देने की बात इतनी ही है कि वे प्रवृत्तिया आकर्षक हो, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बच्चो पर अनुकूल प्रभाव छोड़ने वाली हो। मूल बात एक ही है कि बेल को बढना है, वह बढेगी। कंटीली बाड हो या दीवार, जो भी आलम्बन मिलेगा, उसके सहारे बढेगी। यही स्थिति बच्चो की है। उन्हे आलम्बन चाहिए। आलम्बन प्रशस्त होगा तो उनके जीवन की गति स्वत ही ऊर्ध्वमुखी हो जाएगी।

प्रश्न : शिक्षा जगत मे जीवन-विज्ञान का नाम चर्चा का विषय बन रहा है। यह बच्चो के लिए शैक्षिक बोझ को बढाने वाला तो नही है ?

उत्तर : जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम का निर्धारण करते समय प्रारम्भ मे ही यह ध्यान रखा गया है कि इसमे बच्चो के दिमाग पर अतिरिक्त दबाव न पड़े। इसमे सिद्धान्त पक्ष पढाने के साथ प्रयोग पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। बच्चो को ऐसे प्रयोग कराए जाते हैं, जिनसे उनकी एकाग्रता बढती है और वे कम समय मे अधिक काम करने लगते हैं। बच्चों को बौद्धिक विकास के साथ भावनात्मक विकास की ओर ले जाने वाला यह उपक्रम शिक्षा जगत मे उभर रही अनेक समस्याओं का समाधान है। बहुआयामी होने के कारण यह प्रक्रिया न तो ऊबाऊ है और न इससे बच्चों पर कोई बोझ ही बढ़ता है।

जिन स्कूलो मे जीवन-विज्ञान का प्रशिक्षण दिया जा रहा है वहा के बच्चो मे आश्चर्यजनक बदलाव आ रहा है। जिन बच्चो की अनुशासनहीनता, उच्छृखलता आदि वृत्तियो को लेकर शिकायतें आती थी, उन बच्चो मे अप्रत्याशित सुधार देखकर अध्यापक और अभिभावक अनुभव कर रहे हैं कि कुछ न कुछ नयी बात घटित हो रही है। ...

प्रयत्न से जीवन-विज्ञान के जो परिणाम आ रहे है, उन्हे देखकर यह भावना जागती है कि देश के सभी विद्यालयो मे जीवन-विज्ञान को अनिवार्य रूप से लागू कर दिया जाए तो शिक्षा के क्षेत्र मे एक क्रान्ति आ सकती है।

प्रश्न अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान आदि परिपक्व मस्तिष्क वालो के लिए ही उपयोगी है अथवा बच्चो के लिए भी इनका कोई सीधा उपयोग है ?

उत्तर परिपक्व मस्तिष्क वालो को अणुव्रती और प्रेक्षाध्यानी बनाने मे काफी कठिनाई हो रही है। वे लोग प्रेक्षाध्यान के शिविर तभी लेते है, जब उनको शारीरिक या मानसिक स्वार्थ साधना होता है। बच्चे स्वार्थ और परार्थ के द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त होते हैं। उन्हे जो उजाला मिलता है, उससे वे पूरा-पूरा लाभ उठा सकते है। इसी बात को ध्यान मे रखकर जीवन-विज्ञान का उपक्रम प्रस्तुत किया गया। इसके माध्यम से बच्चो के जीवन मे अणुव्रत और प्रेक्षाध्यान दोनो उतर जाते है। इसलिए मै चाहूगा कि इस क्षेत्र मे बच्चो को प्राथमिकता दी जाए।

आज प्रौढ शिक्षा का स्वर बहुत बुलन्दी पर है। इसके लिए सरकार का बजट बनता है। स्थान-स्थान पर काम भी हो रहा है। पर उसका परिणाम कितना सन्तोषजनक है, कहना कठिन है। क्या इससे अच्छा यह नही है कि होने वाले बच्चो मे एक भी निरक्षर न रहे, इस बात पर पूरा ध्यान केन्द्रित किया जाए। यदि देश का हर बच्चा साक्षर और शिक्षित होता है तो आने वाले बीस वर्षों मे निरक्षरता का अधेरा स्वय समाप्त हो जाएगा।

प्रश्न कुछ लोगो का अभिमत है कि बच्चो को प्रारम्भ से ही यौन-सम्बन्धी शिक्षा दी जानी चाहिए। क्या आप भी इसे आवश्यक मानते है ?

उत्तर इस सम्बन्ध मे मेरी सहमति सापेक्ष होगी। यह एक सच्चाई है कि आज का बच्चा अतीत की अपेक्षा अधिक समझदार होता जा रहा है। लोगो की जीवन-शैली ऐसी हो गई है कि बच्चो के लिए कुछ भी गोपनीय जैसा नही रह गया है। ऐसी स्थिति मे उन्हे उचित मार्गदर्शन और प्रशिक्षण नही मिला तो वे विकृतियो की अधेरी गलियो मे भटक सकते है। पर इसका अर्थ यह नही है कि आधुनिकता के नाम पर उनको वह सब कुछ बता दिया जाए, जिनका उनकी कच्ची उम्र पर गलत प्रभाव हो सकता है। बच्चो को यौन-शिक्षा दी जा सकती है एक सीमा तक, पर किसी उपयुक्त प्रशिक्षक के द्वारा। इस बात को मैं सर्वथा अनुचित मानता हू कि बच्चे इधर-उधर से सेक्स सम्बन्धी जानकारिया बटोरे, वयस्को के लिए बनी फिल्मो से ऐसी शिक्षा पाए और गुमराह हो जाए।

अवधारणा । आत्मा और मोक्ष की

प्रश्न : ईश्वर के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण क्या है ?

उत्तर : आत्मा का अस्तित्व ही ईश्वर के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण है। आत्म से भिन्न ईश्वर के अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष या सदिग्ध प्रमाण प्राप्त हो तो उसके लिए मैं स्वयं जिज्ञासु हूं।

मुझे जो सत्य मिला है, उसके अनुसार मैं इतना ही कह सकता हूं कि आत्मा की निरन्तर विकासशील नही, किन्तु विकास के चरम बिन्दु पर पहुची हुई अवस्था ही ईश्वर है। उसके अस्तित्व का प्रश्न आत्मा के अस्तित्व के प्रश्न से पृथक् नही है।

प्रश्न : आत्मा का क्या प्रमाण है ? यदि यह मान लिया जाए कि जड़भूतों के सम्मिलन से ही चेतन की उत्पत्ति हो जाती है, तो शरीर के नष्ट होने पर चेतन भी लुप्त हो जाता है, उसका कोई अस्तित्व नही रहता। इसके विरोध मे क्या तर्क है ?

उत्तर : आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रत्यक्ष या असदिग्ध प्रमाण प्रस्तुत करना कोई सहज-सरल कार्य नही है। क्योकि वह एक अमूर्त तत्त्व है। मूर्त्त-अस्तित्व की सिद्धि के लिए उपलब्ध प्रमाण अमूर्त को सिद्ध कर सकते है, ऐसा मान लेना एक आग्रही व्यक्ति के लिए बहुत सरल हो सकता है किन्तु एक सत्य-शोधक के लिए कठिन। मैं आगम-प्रमाण की बात नही कर रहा हू, क्योकि वह वैयक्तिक विश्वास का क्षेत्र है। नि ईश्वर के अस्तित्व की अपेक्षा हम आत्मा के अस्तित्व मे अधिक सुन्दर एव अधिक निकट हैं, इसलिए अह के प्रगाढ प्रकाश मे जो देखता है, वह इसी स्वर मे बोलता है कि 'मैं हू' यानी आत्मा का अस्तित्व है। 'मैं हू' इसका बाधक और 'मैं नही हू' इसका साधक कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं है। एक अनात्मवादी भी यह तर्क प्रस्तुत कर सकता है—'मैं हू' इसका साधक और 'मैं नही हू', इसका बाधक कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं है।

किन्तु ऐसा तर्क प्रस्तुत करने वाला तर्क-काल मे अह को अस्वीकृत करता हुआ भी हर क्षण उस अह की भाषा मे बोलता है, जिस भाषा मे कोई अचेतन या अचेतन योग से निष्पन्न कोई भी तत्त्व नही बोलता।

आपके प्रश्न मे जो तर्क प्रस्तुत है, वह किसी प्रत्यक्ष या असदिग्ध प्रमाण से समर्थित नही है, यह उसके विरोध मे मात्र तर्क ही नही, किन्तु उसके मूल पर प्रहार है।

प्रश्न : पुनर्जन्म यदि होता है तो उसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर : आत्मा का होना ही पुनर्जन्म का प्रमाण है। इस प्रश्न का कोई स्वतन्त्र मूल नही है। पूर्वजन्म की स्मृति, सस्कार तथा क्रिया की प्रतिक्रिया—ये पुनर्जन्म की पुष्टि के व्यावहारिक प्रमाण है।

प्रश्न : क्या पुनर्जन्म का आधार कर्म है ?

उत्तर : पुनर्जन्म का ही क्या, जन्म मात्र का हेतु कर्म है। जो कर्म-मुक्त होता है, वह जन्म-मरण से ही मुक्त हो जाता है।

प्रश्न : श्री अरविन्द घोष का कथन है कि मनुष्य योनि प्राप्त होने के बाद आत्मा अन्य योनियो मे नही जाती, परन्तु हमारे प्राचीन सिद्धान्तो के अनुसार यह बात नही है। इस सम्बन्ध मे आपकी क्या राय है ?

उत्तर : श्री अरविन्द घोष ने कहा, उसमे सच्चाई नही है, ऐसा मैं नही मानता। सम्यक्-दृष्टि प्राप्त होने पर मनुष्य का अपक्रमण नही होता, वह इससे निम्न योनि मे नही जाता। किन्तु जिसे सम्यक्-दृष्टि प्राप्त नही होती, उसके लिए ऐसा नियम नही है। इसलिए इस कथन मे मैं विभज्यवाद की मर्यादा से सचाई देखता हू।

प्रश्न : कर्म सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर : कर्म सिद्धान्त क्रिया की प्रतिक्रिया, चेतन और अचेतन के योग की रासायनिक प्रक्रिया या स्थूल प्रवृत्ति द्वारा सूक्ष्म की सक्रियता का सिद्धात है। यह सूक्ष्म होने पर भी व्यावहारिक व बुद्धिगम्य है।

प्रश्न : यह सृष्टि स्वयम्भू है या किसी के द्वारा निर्मित ?

उत्तर : जो मूल तत्त्व है, वे स्वयम्भू है। उनके रूपान्तर है, वे निर्मित भी होते है। निर्मात्री शक्ति कोई एक नही है। हर प्राणी निर्माता है। इसी कारण सृष्टि मे विविधता है। वह चेतन और अचेतन दोनो के योग से निर्मित है। दुनिया मे जितना दृश्य है, वह सारा का सारा या तो जीवित शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। अत रूपान्तरण का कर्त्ता जीव है, इस प्रतिपत्ति मे मुझे बहुत स्वाभाविकता प्रतीत होती है।

प्रश्न : सत्य क्या है ?

उत्तर : सक्षेप मे सत्य का अर्थ द्रव्य या एकत्व रूप और विस्तार मे सत्य का

अर्थ पर्याय या नानात्व है। विश्व की भेदाभेदात्मकता सत्य है। यह ज्ञेय दृष्टि की व्याख्या है। उपादेय-दृष्टि से सत्य है आत्मा की अनाकुल अवस्थिति।

प्रश्न : सत्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

उत्तर : सत्य की प्राप्ति के दो साधन हैं—नये सस्कारो का निरोध और पूर्व संस्कारो का निरसन। सत्य की उपलब्धि मे वाधक मूढता है। मूढता की दो भूमिकाए हैं—दृष्टि की मूढता, चरित्र की मूढता। जैसे-जैसे ऋजु भाव और अनाग्रह भाव विकसित होता है, वैसे-वैसे मूढता निरस्त होती है। जैसे-जैसे मूढता निरस्त होती है, वैसे-वैसे सत्य उपलब्ध होता है।

प्रश्न : जीवन क्या है ? जीवन का सत्य के साथ क्या सम्वन्ध है ?

उत्तर : शरीर-बद्ध आत्मा के प्रवहमान अस्तित्व की एक धारा जीवन है। पर्याय या परिवर्तन सत्य का अश है। जीवन पर्यायात्मक सत्य है। वह वर्तमान मे सत् है, किन्तु भावी पर्याय के उदित होने पर असत् बन जाता है।

प्रश्न : क्या राग-द्वेष जीवन के अभिन्न अग हैं ? यदि नही तो उनकी उत्पत्ति कहा से होती है और ये जीवन को कैसे इतना प्रभावित करते हैं ?

उत्तर : राग-द्वेष जीवन के मूल सूत्र है। जीवन और मृत्यु का प्रवाह तब तक अविच्छिन्न रहता है, जब तक राग-द्वेष विच्छिन्न नही होते। ये जीवन के अतरग मे इतने गहरे पैठे हुए है कि इनसे जीवन प्रभावित ही नही, बहुत दूर तक सचालित होता है। इनकी आग अतरग मे सदा जलती रहती है, बाह्य निमित्त मिलने पर वह अभिव्यक्त हो जाती है। इसलिए हमारी यह भाषा अधिक सगत होगी कि राग-द्वेष की उत्पत्ति नही, किन्तु अभिव्यक्ति होती है।

प्रश्न : क्या राग-द्वेष का निराकरण किया जा सकता है ? यदि हा, तो किस प्रकार ?

उत्तर : राग-द्वेष के निराकरण का प्रारम्भ किया जा सकता है। जिसका प्रारम्भ हो चुकता है, उसकी परिसमाप्ति क्यो नही होगी ? इनके निराकरण का प्रारम्भ सम्यक्-दर्शन से होता है। जब तक हम राग-द्वेष को नही देखते, तब तक ये हम पर अपना आधिपत्य जमाए बैठे रहते हैं। जिस दिन हम देख लेते हैं कि ये हमारे नही हैं, केवल हम पर अपना प्रभुत्व जमाए बैठे है, उसी दिन से इनके निराकरण का प्रारम्भ हो जाता है। जैसे-जैसे दर्शनशक्ति विकसित होती जाती है, वैसे-वैसे चरित्र का बल बढ़ता और इनका निराकरण होता जाता है और एक दिन निराकरण अपनी अन्तिम स्थिति पर पहुंच जाता है।

प्रश्न क्या हमारे नाते-रिश्ते चिरस्थायी हैं ? क्या इनका सम्बन्ध हमारे भूत या भविष्यकालीन जीवन से है ?

उत्तर · सम्बन्ध है, इसका अर्थ ही है कि वह समय की अवधि से मुक्त नही है। अवधि दीर्घकालीन भी हो सकती है। हार्दिक सम्बन्ध का सस्कार यदि पचास-साठ वर्ष तक टिक सकता है तो पांच छह-सौ वर्ष तक क्यो नही टिक सकता ? सूक्ष्म की शक्ति मे विश्वास होने लगा है, शीघ्र ही अब इस रहस्य की ओर ध्यान जाने वाला है कि हमारी प्रवृत्तियो का सूत्रधार स्थूल शरीर नही, किन्तु सूक्ष्म शरीर है और उसमे सुदूर भूत और भविष्य की प्रवृत्तियो को वहन करने की क्षमता है।

प्रश्न अच्छे और बुरे, पुण्य और पाप की व्याख्या और पहचान क्या है ? क्या वे हमारे भावी जीवन को प्रभावित करते है ? यदि हा तो किस प्रकार ?

उत्तर अच्छे और बुरे तथा पुण्य और पाप की व्याख्या या पहचान निरपेक्ष दृष्टि से नही की जा सकती। हमारे जीवन की जितनी भूमिकाए है, उतनी ही इनकी व्याख्या के सूत्र और पहचान के चक्षु है। हम किसी निश्चित बिन्दु पर खडे होकर ही जानने की चेष्टा कर सकते है कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है। आपका अच्छे और बुरे की व्याख्या का आशय कर्मशास्त्रीय हो तो मै कह सकता हू कि आत्मा के साथ विजातीय तत्त्व का अनिष्ट योग होता है, वह बुरा या पाप है और उसके साथ विजातीय का इष्ट योग होता है, वह अच्छा या पुण्य है। यह अच्छे और बुरे की व्याख्या है। हर वर्तमान से भविष्य प्रभावित होता है। हर भविष्य पूर्व की अपेक्षा से भविष्य किन्तु अपनी अपेक्षा से वर्तमान ही होता है, इसलिए वह पूर्व से प्रभावित हो सकता है, किन्तु सर्वथा नियत्रित नही। जैसे अतीत की घटनाओ से वर्तमान की प्रवृत्ति प्रभावित होती है, वैसे ही पुण्य या पाप से हर प्रवृत्ति प्रभावित होती है। यह प्रक्रिया स्थूल जगत् से हटकर सूक्ष्म जगत् के स्तर पर होती है, इसलिए अधिक प्रभावशाली होती है।

प्रश्न जीवन मे शान्ति किस प्रकार प्राप्त की जाए ? इसके लिए क्या कोई साधना है ?

उत्तर सत्य को उपलब्ध किए विना शान्ति उपलब्ध नही हो सकती। उसकी साधना है—एकत्व की भावना का अभ्यास या उस सम्बन्ध की खोज, जिसका सम्बन्ध किसी अमुक से नही, सबसे है।

प्रश्न . जीवन का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर : जीवन का उद्देश्य क्या है, इसकी जानकारी मुझे नही है। वह कोई पहले से ही बना-बनाया, घडा-घडाया है, ऐसा मैं नही मानता।

यदि इस प्रश्न का आशय यह है कि जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए तो मैं कह सकता हू कि उद्देश्यो की लम्बी सूची मे सबसे प्रथम और सबसे बडा या सर्वाधिक अनिवार्य उद्देश्य होना चाहिए अपने आपकी उपलब्धि, जो अस्तित्व अनेक आवरणो से आवृत है, उसका अनावृतीकरण या परोक्षानुभूति की भूमिका से हटकर प्रत्यक्ष की भूमिका पर अवस्थिति।

प्रश्न : क्या मृत्यु का समय निश्चित रहता है ? क्या इसके पहले व्यक्ति की मृत्यु नही होती ?

उत्तर : साधारणतया जीवन की अवधि निश्चित होती है। अवधि की समाप्ति का अर्थ है मृत्यु। किन्तु आकस्मिक दुर्घटना आदि निमित्तो से उस अवधि मे परिवर्तन भी हो सकता है। यह परिवर्तन-प्राप्त मृत्यु ही अकाल मृत्यु है। जो जीवन की अवधि पूर्ण होने पर आती है, वह काल-मृत्यु होती है।

प्रश्न : यदि यह सत्य है कि मृत्यु समय पर ही होती है, तो क्या आकस्मिक दुर्घटनाएं भी इसी सत्य के निमित्त होती है ?

उत्तर : इस प्रश्न का समाधान पूर्व प्रश्न के उत्तर मे किया जा चुका है।

प्रश्न : सद्गुरु की प्राप्ति के लिए क्या किया जाए ?

उत्तर : सद्गुरु की प्राप्ति उसी व्यक्ति को हो सकती है, जो हीन-भावना से उतना ही मुक्त है, जितना कि अहंकार की भावना से मुक्त है या अहंकार की भावना से उतना ही मुक्त है, जितना कि हीन-भावना से मुक्त है। अत: सद्गुरु की प्राप्ति के लिए हीनता के विलयन और अहंता के विसर्जन की पद्धति का आलम्बन लेना मुझे इष्ट लगता है।

प्रश्न : 'संशयात्मा विनश्यति'—इस उक्ति के अनुसार आजकल के पढे-लिखे हम लोगों का इस प्रकार की ऊहापोह के कारण क्या नाश ही होगा ?

उत्तर : संशय के दो अर्थ है—जिज्ञासा और सदेह। जिज्ञासा से विकास और संदेह से विनाश होता है। आधुनिक लोगो मे जिज्ञासा नही, केवल संदेह होता है। इस स्थिति मे कुछ अन्तर हो, यदि संशय उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि के लिए हो तो 'संशयात्मा विनश्यति' के स्थान पर 'न संशयमनारुह्य, नरो भद्राणि पश्यति' यह भी हो सकता है।

प्रश्न : मोक्ष का स्वरूप क्या है ? वह कैसे प्राप्त हो ?

उत्तर : मोक्ष अर्थात् बन्धन से मुक्ति। आत्मा की दो अवस्थाए होती हैं—बद्ध और मुक्त। मुक्त अवस्था, जिसमे सब प्रकार के बन्धन विच्छिन्न हो

जाते है, वह मोक्ष है। आत्म-स्वरूप का उदय ही मोक्ष का स्वरूप है। ईश्वर, मोक्ष या आत्मा की मुक्त अवस्था—तीनो एकार्थक है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है सजातीय गुणो—ज्ञान, आनन्द, शक्ति और पवित्रता मे रमण और विजातीय गुणो—अज्ञान, दु ख और विकृति से विरमण।

प्रश्न · मोक्ष के बाद की क्या स्थिति है ? क्या उसके बाद भी जीव है ?

उत्तर . आत्मा की जो स्वाभाविक स्थिति है, वही मोक्ष के बाद की स्थिति है। उस स्थिति मे शरीर और शरीर-निष्पन्न धर्म नही होते, केवल आत्मिक धर्म होते है। मोक्ष के बाद आत्मा अनात्मा नही होती, जीव अजीव नही होता या चेतन अचेतन नही होता। उस स्थिति मे आत्मत्व, जीवत्व या चैतन्य इतना प्रबुद्ध या अनावृत हो जाता है कि उसमे कोई बाधा उपस्थित नही होती।

प्रश्न : मृत्यु का समय यदि पूर्व-निश्चित है तो नियति का यह नियम मानव-मात्र के लिए है या प्राणीमात्र और जीवमात्र के लिए भी है ?

उत्तर : मृत्यु का नियम जैसे मनुष्य के लिए है, वैसे ही प्राणियो के लिए भी है। कुछ आपवादिक स्थितियो को छोडकर सामान्यत यह नियम सबके लिए समान है।

(प्रश्नकार—ससद-सदस्य सेठ गोविन्ददासजी)

समाधान के स्वर

प्रश्न : आप अभी कहां से आये हैं और आपको कहा जाना है ? आपकी यात्रा का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर : मैं राजस्थान से दक्षिण भारत की पद-यात्रा पर निकला हू। यह पांच हजार मील की यात्रा लगभग चार वर्षो मे पूरी होगी। मेरी यात्रा का उद्देश्य है—मानव-मानव का निर्माण। इस निर्माण के लिए मैंने पाच व्रत बतलाये हैं और उन्ही का प्रचार करने गाव-गांव और नगर-नगर मे घूम रहा हू।

प्रश्न · वे पाच नियम कौन-से हैं ?

उत्तर : वे है अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

प्रश्न : किन्तु आपकी अणुव्रत समिति मुख्य रूप से मिलावट-विरोधी अभियान चलाती है। क्या आपके इन पाचो व्रतो मे इसका भी समावेश होता है ?

उत्तर : वास्तव मे अच्छे अणुव्रती के लिए मुख्य रूप से ग्यारह व्रत हैं। सामान्य जनता के लिए मैंने पाच व्रतो का उल्लेख किया है।

प्रश्न अणुव्रत क्या है ?

उत्तर : अणु का अर्थ है 'छोटा' और व्रत का अर्थ है 'नियम'। अणुव्रत अर्थात् छोटे-छोटे व्रत। यह जैन आगमो का शब्द है और जैन-साहित्य मे इसका प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। अणुव्रती वह है, जो इन नियमों का पालन करता है और अच्छा जीवन जीता है। मैंने इसका प्रवर्तन अठारह वर्ष पूर्व किया था और आज यह भारत का बहुत बड़ा नैतिक आन्दोलन बन गया है।

प्रश्न · क्या आपके सभी नियम केवल व्यापारियो के लिए ही हैं ?

उत्तर : नही, सभी वर्गो के लोगो के लिए इसमे वर्गीय नियम हैं। विद्यार्थी,

अध्यापक, राज्य-कर्मचारी, वकील, मजदूर, विधायक आदि-आदि के लिए वर्गीय नियम है।

प्रश्न : मैं मानता हू कि आप जैन मुनि है। आप जैनो के किस सम्प्रदाय मे है ?

उत्तर : मैं श्वेताम्बर जैन हू। श्वेताम्बरो मे अनेक सम्प्रदाय है। मै तेरापथ सम्प्रदाय का अनुयायी हू। मै तेरापथी हू। मैं मूर्ति-पूजा मे विश्वास नही रखता।

प्रश्न : तेरापथ का अर्थ क्या है ?

उत्तर : इसका अर्थ है—हे प्रभो ! यह तेरापथ है, हम तो उसके अनुयायी है।

प्रश्न : तेरापथ के कितने अनुयायी हैं ?

उत्तर : इस सघ मे लगभग छह सौ पचास साधु-साध्विया और पाच लाख श्रावक-श्राविकाए है। इसमे एक ही आचार्य होते है। उप-आचार्य आदि अन्य कोई पद नही होते। यह लगभग दो सौ वर्षों से चल रहा है और यह जैन-सम्प्रदायो मे क्रान्तिकारी सम्प्रदाय है।

प्रश्न : आप तेरापथ को क्रान्तिकारी किस दृष्टि से कहते हैं ?

उत्तर : हमारे कोई मन्दिर, मठ या हेड क्वार्टर नही होते। आचार्य के साथ-साथ हेड क्वार्टर बदलते रहते है।

प्रश्न : तेरापथ के प्रवर्तक कौन थे ?

उत्तर : आचार्य भिक्षु इसके प्रवर्तक थे। उन्होने साधु-समाज मे आपसी कलह और सघर्ष देखे। उन्होने इसका मुख्य हेतु माना—शिष्य परम्परा और स्थान की प्रतिबद्धता। आचार्य भिक्षु ने इन दोनो परम्पराओ का अस्तित्व मिटा डाला। अब हमारे सघ मे एकमात्र आचार्य ही सर्वशक्ति-सम्पन्न होते है और वे ही दीक्षा देने के अधिकारी होते है।

प्रश्न : मैने सुना है कि कई प्रान्तीय सरकारो ने आपके अणुव्रत आन्दोलन को मान्यता दी है। क्या यह सत्य है ?

उत्तर : हा, बिहार, बगाल, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मैसूर और महाराष्ट्र सरकार ने इस आन्दोलन को पूरा सहयोग दिया है।

प्रश्न : उन्होने किस प्रकार से सहयोग दिया है ?

उत्तर : प्रान्तीय सरकारो ने ऐसी अनेक विज्ञप्तिया प्रसारित की है, जिनमे विद्यार्थियो आदि को अणुव्रत समझने की प्रेरणाए है। दिल्ली सरकार ने अपने चार सौ स्कूलो मे 'नैतिक पाठमाला' नामक पुस्तक का अध्यापन प्रारम्भ किया है। यह पुस्तक हमने तैयार की है।

प्रश्न : महाराष्ट्र सरकार ने क्या किया है ?

उत्तर : यहा के शिक्षा-मंत्री मुझसे मिले थे। उन्होने स्कूलो की सभी कक्षाओ के लिए नैतिक पाठ तैयार करने के लिए मुझसे कहा है। इस नैतिक

पाठमाला का एकमात्र उद्देश्य है—विद्यार्थी जीवन का नैतिक निर्माण ।

प्रश्न : आपका आन्दोलन असरकारी स्तर पर कितना फैला है ?

उत्तर : बहुत कुछ। अणुव्रत समितियो की अध्यक्षता मे लगभग दस हजार व्यापारियो ने यह व्रत लिया है कि वे 'मिलावट' नही करेंगे। केवल बम्बई शहर मे ही बारह सौ व्यापारी ऐसे हैं, जिन्होने यह व्रत लिया है।

प्रश्न : आपका अणुव्रत आन्दोलन अठारह वर्ष पुराना है। इससे जनता को प्रत्यक्षत. क्या लाभ हुआ है ?

उत्तर : सबसे बडा लाभ तो यह हुआ है कि सारे देश मे नैतिकता का वातावर बना है। अनेक स्थानो पर शुद्ध खाद्य वस्तुएं मिलने लगी हैं। कुछ सम पहले जब विद्यार्थियो ने व्यापक रूप से तोड-फोड़मूलक प्रवृत्तिया प्रार की थी और सभी प्रान्त इसके शिकार हुए थे, उस समय अजमेर विद्यार्थियो ने कुछ भी उपद्रव नही किये। इसका एकमात्र कारण था कि अजमेर के सभी स्कूलो मे अणुव्रत प्रवेश पा चुका था। हज विद्यार्थी अणुव्रती बने थे।

प्रश्न : आप मुंह पर पट्टी क्यो रखते हैं ?

उत्तर : अहिंसा के लिए।

प्रश्न : क्या आप पखो और बिजली का उपयोग नही करते ?

उत्तर : नही।

प्रश्न : क्या आप दान के रूप मे रुपया-पैसा भी लेते हैं ?

उत्तर . नही, हमे रुपये-पैसे की आवश्यकता नही होती। हम भिक्षा से भोजन प्राप्त करते हैं। हम न भोजन पकाते हैं और न भोजन प है। जो भोजन विशेष रूप से हमारे लिए बनाया जाए, उसे हम नही करते।

प्रश्न : आपने कहा कि स्कूलो मे अणुव्रत प्रवेश पा चुका है, क्या उसका कॉलेजो में भी हुआ है ?

उत्तर : हमारे पास पर्याप्त कार्यकर्त्ता नही है, इसलिए हमने कॉलेज स अणुव्रतो को चलाने का सामूहिक प्रयत्न नही किया है। ऐसे ह कॉलेजो मे गये है और जाते है।

प्रश्न : विभिन्न प्रान्तो मे जो अणुव्रत समितिया है, उनके अध्यक्ष आ प्रकार के व्यक्ति है ?

उत्तर . अणुव्रत समितियो के अधिकारी व्यक्ति प्राय' वे ही होते हैं, जिनके जीवन का प्रभाव जनता पर होता है। अखिल भारतीय अणुव्रत के अध्यक्ष है—रविशकर महाराज।

प्रश्न : देश-भर मे कितनी अणुव्रत समितिया है और कितने अनुयायी है ?

उत्तर : देश मे लगभग दो सौ समितिया है और लाखो अनुयायी है।

प्रश्न : बगाली लोग प्रधान रूप से अशाकाहारी होते है। क्या उन्होने भी आपके व्रत लिये है ?

उत्तर बगालियो ने शाकाहार का व्रत लिया है। मैं उन व्यक्तियो को भी अणुव्रती के रूप मे स्वीकार करता हू, जो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते है कि वे प्रथम प्रयास मे मासाहार नही छोड सकते, परन्तु मासाहार छोडने का अभ्यास करना चाहते है। हमारी बंगाल यात्रा मे अनेक बगाली हमारे सम्पर्क मे आए। उन्होने अणुव्रतो को समझा है और स्वीकार भी किया है।

प्रश्न जो व्यक्ति अणुव्रतो को तोड देते है, उनके लिए क्या व्यवस्था है ? क्या आप उन पर निगरानी रखते है ?

उत्तर. मैं उन पर निगरानी नही रखता। ऐसी घटनाए भी है कि कुछ व्यक्तियो ने व्रत तोड डाले। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति स्वय मेरे पास आते है और अपनी भूल का प्रायश्चित्त करते हैं। मै उन्हे प्रायश्चित्त के बदले, हृदय पवित्र करने की बात कहता हू।

प्रश्न ' हृदय की पवित्रता से आपका क्या आशय है ?

उत्तर : हृदय को सरल और ऋजु बनाकर पुन उस भूल को न दोहराने का सकल्प लेना ही हृदय को पवित्र करना है। साथ-साथ मैं उन्हे उपवास, ऊनोदरी करने या अपनी प्रिय वस्तु को छोडने के लिए भी कहता हू।

प्रश्न जब व्यक्ति अणुव्रतो के नियमो को स्वीकार करने से इनकार कर देते हैं, तब आप क्या करते है ?

उत्तर यह आन्दोलन निराशावादी आन्दोलन नही है, जो न फैलने पर निराश हो जाए। हम अपना कर्तव्य करते है। कुछ साधु-साध्वी नेपाल और सिक्किम तक भी गये है और आन्दोलन का प्रचार किया है। मैं स्वय पचीस हजार मील चल चुका हू। दक्षिण मे मै पहली बार जा रहा हू।

प्रश्न आप दक्षिण मे कहा-कहा जाना चाहते हैं ?

उत्तर : मद्रास, बगलौर, केरल, हैदराबाद आदि-आदि मुख्य स्थानो पर जाना है और साथ-साथ सभी प्रदेशो मे मुझे घूमना है। मैसूर विधान सभा के अध्यक्ष मैसूर राज्य अणुव्रत समिति के अध्यक्ष हैं।

प्रश्न ' क्या आप महाराष्ट्र के मुख्यमत्री से मिले है ? क्या वे अणुव्रती है ?

उत्तर नाइक अणुव्रती नही है, किन्तु अणुव्रतो के समर्थक है। केन्द्रीय मत्री जयसुखलाल हाथी अणुव्रती है।

प्रश्न आपके मुनि और क्या करते हैं ?

उत्तर : लगभग चालीस साधु-साध्वी आगम संपादन-कार्य मे सलग्न हैं। आगम साहित्य को हम सस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी मे प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के आस-पास महाराज सम्प्रति ने महाराष्ट्र मे जैन मुनियो को बुलाया और उन्हे यहा रहने का अनुरोध किया था। सारे आगम महाराष्ट्री प्राकृत मे है। हम उन्हे विविध व्याख्याओं के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। बडे-बडे लगभग सौ ग्रंथ होंगे।

(दी टाइम्स ऑफ इंडिया, बम्बई/वार्ताकार किशोर दोशी)

३०-६-६८

धर्म न अमीरी में है, न गरीबी में

प्रश्न · आपका अणुव्रत आन्दोलन बहुत समय से चल रहा है, फिर आपको प्रेक्षा-ध्यान चलाने की आवश्यकता क्यो हुई ?

उत्तर : अणव्रत आन्दोलन सदाचार का भावान्दोलन है, पर सदाचार को प्रतिष्ठित करने के लिए एक प्रक्रियात्मक प्रयोग की आवश्यकता सदा अनुभव होती रही है। बहुत बार आदमी मे सदाचार का सकल्प जागता है पर वह सकल्प स्थिर नही रह पाता। धीरे-धीरे यह अनुभव होने लगा कि आन्तरिक रूपान्तरण के बिना सकल्प सम्भव नही है, इसी खोज मे प्रेक्षा-ध्यान से परिचय हुआ। प्रेक्षा-ध्यान से अन्त स्रावी ग्रन्थियो मे परिवर्तन आता है। आदमी के स्वभाव मे परिवर्तन आ सकता है। उसमे आन्तरिक रूपान्तरण घटित हो सकता है। इस दृष्टि से अणुव्रत के साथ प्रेक्षा का अनुबन्ध एक महत्त्वपूर्ण देन बन गयी है।

प्रश्न · आपकी नजरो मे अणुव्रत आन्दोलन कहा तक सफल है ?

उत्तर अणुव्रत आन्दोलन के असफल होने का तो कोई सवाल ही नही है। मैं किसी सफलता को परिणाम मे नही, उसके प्रयत्न मे देखता हू। हमारा प्रयत्न शुद्ध है, इसलिए मैं इसे सफल ही मानता हू। हमारा यह दावा भी नही कि हम सारी दुनिया को सुधार देगे। हम अपनी शक्तिभर प्रयत्न करना चाहते है, करते रहे है और करते रहेगे।

प्रश्न जिस तरीके से अणुव्रत आन्दोलन को जन-जन तक पहुचाने के लिए आपने सारे भारत की यात्रा की है, क्या आप प्रेक्षा-ध्यान को भी जन-जन तक पहुचाने के लिए सारे भारत की पुन यात्रा करेगे ?

उत्तर पद-यात्रा हमारा जीवन व्रत है। जब तक मैं चल सकता हू, पद-यात्रा करता ही रहूगा। अणुव्रत और प्रेक्षा के कार्य को मैं भिन्न नही मानता। इसलिए मै जहा भी जाऊगा, दोनो काम साथ ही चलेगे। अब तक मैंने एक लाख किलोमीटर से अधिक की पदयात्रा कर ली है। मेरी अवस्था

भी सत्तर वर्ष के करीब हो गयी है। अपना दायित्व अब मैंने युवाचार्य को सम्भाल दिया है। फिर भी मै यह नही सोचता कि मैं किसी एक जगह बैठ जाऊगा। हो सकता है लम्बी यात्रा न भी करु, पर यात्रा के प्रति अभी मेरा उत्साह है।

प्रश्न : क्या धर्म-प्रचार के लिए आपकी विदेश जाने की कोई योजना है ?

उत्तर : विदेश जाना हमारे लिए वर्जित नही है। यह यात्रा पैदल ही होती है। ऐसे देशो मे जहा जहाज से जाना जरूरी है वहा हमारी समणिया जाती हैं। अभी-अभी उनका एक ग्रूप लन्दन की यात्रा से लौटा है।

प्रश्न : समणियां कौन होती है और लन्दन मे उन्होंने क्या धर्म-प्रचार किया ?

उत्तर : समणिया साधु और श्रावक के बीच की एक कडी है। अपनी आचार विधि के कारण साधु-साध्विया एक सीमा तक ही कार्य कर सकते है। श्रावक लोग भी परिवार से बधे होने के कारण एक सीमा तक ही कार्य कर सकते है, इसलिए बीच की कडी एक तीसरी श्रेणी प्रारम्भ हुई। इनका आचार-विचार वैसे साधु के समकक्ष ही होता है, केवल खान-पान, यातायात आदि की दृष्टि से कुछ अपवाद है। समणियो ने अनेक जगहो पर धर्म-प्रचार के माध्यम से अच्छा कार्य किया है, लन्दन मे भी उन्होने भारतीय समाज मे अपने मौलिक सस्कारो मे दिलचस्पी पैदा करने मे अच्छी सफलता प्राप्त की है।

प्रश्न : क्या सभी जैनाचार्य मिलकर जैन सम्प्रदायो मे एकता स्थापित कर सकते है ?

उत्तर : यदि सच्ची भावना से कोई कार्य किया जाए तो मैं उसमे असम्भावना नही देखता। जैन सम्प्रदायो की एकता का यह अर्थ लिया जाये कि सारे सम्प्रदाय मिट जाएं तो यह सम्भव नही लगता, वहरहाल यदि सभी सम्प्रदायों मे सद्भाव और समन्वय दृष्टि का विकास हो तो यह एकता की ओर बढता कदम ही है। इसी दृष्टि से बहुत वर्षों पहले मैंने एक पचसूत्री योजना प्रस्तुत की थी। वह इस प्रकार है—

१. मडनात्मक नीति बरती जाये। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये, दूसरो पर मौखिक तथा लिखित आक्षेप न किया जाये।
२. दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाये।
३. दूसरे सम्प्रदायो और उनके अनुयायियो के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाये।
४. कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाये।

५ धर्म के मौलिक तथ्यो—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाये ।

मैं नही समझता कि यह कोई असम्भव काम है। मैं इसे नितान्त सम्भव मानता हू। यह केवल जैन सम्प्रदाय मे समन्वय साधने की ही योजना नही है अपितु समस्त धर्म-सम्प्रदायो मे समन्वय साधने की एक महत्त्वपूर्ण योजना है।

प्रश्न अगर मान लिया जाये कि सारे जैन सम्प्रदाय एक हो जाये तो फिर किस धर्म-सघ की व्यवस्था होगी ?

उत्तर जैसा कि मै पहले कह चुका हू कि मैं सम्प्रदायो को मिटाने के पक्ष मे नही हू। सम्प्रदाय को मिटाना विचार-स्वतन्त्रता का गला घोटना है, सभी सम्प्रदायो को अपनी-अपनी तरह से सोचने और करने की स्वतत्रता मे हम हस्तक्षेप न करे, यह भी आवश्यक है। हाथ मे पाच अगुलिया होती है। वे सब अलग-अलग होती है। वल्कि अगुलिया और अगूठे की दिशा सर्वथा भिन्न है। पर यह कोई दोप की बात नही है। इस भिन्नता का अपना वहुत वडा महत्त्व है। सारी यत्र सभ्यता का विकास इस भिन्नता से ही सम्भव हो सका है। भिन्न-भिन्न होते हुए भी पाचो अगुलिया हाथ के साथ जुडी हुई है। इसी प्रकार जैन सम्प्रदाय मौलिक विन्दुओ से जुड़े हुए रहे, यह आवश्यक है।

प्रश्न हाल ही मे लन्दन मे सम्पन्न हुए अन्तर्राष्ट्रीय जैन सम्मेलन पर आपके क्या विचार है ?

उत्तर विदेशो मे हमारे लाखो जैन बन्धु रहते है। अकेले लन्दन मे ही वीस-पचीस हजार जैन है। उनके बच्चो का रहन-सहन तथा खान-पान तेजी मे पश्चिमी ढाचे मे ढल रहा है।

जैन सम्मेलम अपने धर्म-सस्कारो को सुरक्षित रखने का प्रयास कर रहा है, यह खुशी की बात है। ये लोग साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहो से मुक्त हैं, यह भी खुशी की बात है।

प्रश्न अभी कुछ दिनो पूर्व एक जैन मुनि का वक्तव्य आया कि धर्माचार्य राजनीति से ऊपर उठे। यह उन्होने आपके ऊपर सीधा व्यग्य किया है। इस पर आपके क्या विचार है ?

उत्तर मै नही समझता कि यह मेरे पर व्यग्य है क्योकि जव मै स्वय भी यह मानता हू कि धर्म को राजनीति से ऊपर रहना चाहिए तो मैं इसे मानूगा कि यह एक तर्कांकत है। मै अपने आपको राजनीति से लिप्त नही मानू गा।

लिप्त नही होने का अर्थ यह नही कि किसी राजनीतिक व्यक्ति से समन्वय भी नही रखना। यदि हम सम्पर्क नही रखेंगे तो अपने अच्छे विचार उन्हे कैसे बता सकेंगे ? अलबत्ता यह आवश्यक है कि धर्म गुरु स्वयं राजनीति में न फसे। अणुव्रत आन्दोलन के सिलसिले मे हमारा देश के सभी शीर्षस्थ राजनेताओ से मधुर सम्पर्क रहा है, पर हम किसी भी दल विशेष का अपने पर दबाव महसूस नही करते। हमने विपक्ष के लिए जितनी बडी बाते कही है उतनी सत्तापक्ष के लिए भी कही हैं। अतः हम नही समझते हैं कि हमारे पर राजनीति हावी है। अलबत्ता हमें राजनीति से एलर्जी नही है।

प्रश्न : लोगों का कहना है कि आप 'धनवानो से ज्यादा बाते करते हैं, बडे-बडे शहरो मे चातुर्मास करते है, आपके चातुर्मास पर लाखो रुपये खर्च होते है ?

उत्तर : मैं धर्म न गरीबी मे मानता हू, न अमीरी मे। मैं तो गुणवत्ता को मानता हूं। जिस किसी व्यक्ति मे मुझे अच्छाई दिखाई देती है, मैं उसका आदर करता हू।

मेरे अधिकाश चातुर्मास कस्बो मे होते हैं। बडे शहरो मे भी अपने अनुयायियो की दृष्टि से मुझे चातुर्मास करने पड़ते हैं, पर अपनी रुचि से मैं गावो मे ही रहना पसन्द करता हू। हमारा साधु-समुदाय स्वावलम्बी है, उसके लिए किसी प्रकार के अर्थ की जरूरत नही पडती। प्रचार-प्रसार तथा आने वाले दर्शनार्थी व्यक्तियो के लिए समाज व्यवस्था करता है। इसे मेरे साथ नही जोडा जाना चाहिए। आगे यह भी समझना चाहिए कि इस प्रकार के काम करने वाले संस्थानो की तुलना मे हमारा धर्म-सघ बहुत मितव्ययी है।

प्रश्न : कुछ लोगो का यह भी कहना है कि आप अपने शासन-सघ को चलाने के लिए किसी साधु-साध्वी से गलती हो जाती है तो उसे दबा देते हैं। क्या यह सही है ?

उत्तर : मैं न तो गलती को दबाने के पक्ष मे हूं, न फैलाने के। मैं तो उसे सुधारने के पक्ष मे हू। मैं यह नही कहता हू कि हमारे सघ मे कोई गलती नहीं करता। पर यह भी कह सकता हू कि मेरा साधु-साध्वी समाज जितना आचारनिष्ठ एव अनुशासित है उस पर मुझे गर्व है। गलती होना कोई बडी बात नही है। आज नही, हमेशा ही मनुष्य मे यह दुर्बलता रही है। हम हर गलती का मनोवैज्ञानिक ढग से सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। यदि उसमे सुधार की कोई गुजाइश नही होती है तो हम उसे सहन नहीं कर सकते। आचार तथा अनुशासन की सम्भावनाओ मे सुधार

गुजाइश नही होने पर मैने बडे-से-बडे बल्कि एक साथ अनेक लोगो का सम्बन्ध विच्छेद किया है और यह अन्तिम कदम है। उससे पहले उसे सम्भलने का अवसर देना केवल धार्मिक ही नही, मानवीय दृष्टिकोण भी है।

प्रश्न तेरापथ के आद्यप्रणेता आचार्यश्री भिक्षु अपने गुरु रुघनाथजी से इसलिए अलग हुए थे चूकि उस समय साधुओ के लिए स्थानक बनाये जा रहे थे लेकिन आज जगह-जगह पर भव्य तेरापथ सभा-भवन वन रहे है और साधु-साध्विया भी वही ठहरते है, ऐसा क्यो ?

उत्तर आचार्य-भिक्षु केवल स्थानको के लिए ही अपने गुरु से अलग नही हुए थे। मुख्य रूप से उसका कारण कुछ मौलिक विचार-भेद था। स्थानक भी इस दृष्टि से एक मुद्दा था। उस समय स्थानक साधुओ के निमित्त बनने लगे थे। साधु लोग स्थानको के निर्माण-व्यवस्थापन मे सक्रिय भाग लेने लगे थे। आचार्य भिक्षु ने उसी का विरोध किया था, वह विरोध आज भी कायम है। आज तेरापथ मे जो सभाभवन बनते है वे स्थानक का प्रतिरूप नही है। क्योकि श्रावक लोग उनको अपनी धार्मिक, सामाजिक आवश्यकताओ के लिए उपयोग करते है, इस आवश्यकता को हम रोक भी नही सकते है। इस पर साधुओ का कोई हस्तक्षेप और अधिकार नही होता। समाज के लोग अपनी आवश्यकता से कोई मकान आदि का निर्माण करते है, उसे रोकना हम आवश्यक नही समझते है तथा समय पर उनका उपयोग करने मे भी कोई दोष नही समझते।

प्रश्न क्या आप तेरापंथ धर्म सघ के सिद्धान्तो मे युग के अनुरूप कोई आमूल-चूल परिवर्तन करेगे ?

उत्तर हमे अपने मौलिक सिद्धान्तो मे परिवर्तन की कोई अपेक्षा महसूस नही होती। व्यवस्था तथा परम्परा नियमो मे समयानुकूल परिवर्तन हमेशा होते आए है, हमने भी किया है। आगे भी रास्ता खुला है। हम लकीर के फकीर होने मे विश्वास नही करते। किसी भी परम्परा की सार्थकता उसकी मूल भावना को समझने मे है न कि उसे घसीटने मे। सदर्भहीन परम्परा तथा व्यवस्था मे परिवर्तन करने का अधिकार आचार्य को होता है। मैंने उस अधिकार का उपयोग किया है तथा आगे भी करने मे कोई कठिनाई नही देखता हू।

क्या है लोकतन्त्र का विकल्प ?

प्रश्न : राजसमन्द इण्टरनेशनल कान्फ्रेन्स मे आपने अहिंसा के प्रशिक्षण की बात रखी थी। उसका प्रायोगिक स्वरूप क्या हो सकता है ?

उत्तर : अहिंसा का उपदेश बहुत हुआ है, होता है। किसी को मत मारो, किसी को मत सताओ, किसी पर हुकूमत मत करो, किसी को बलात् अपने अनुशासन मे मत रखो, किसी का अग भग मत करो, किसी का हक मत छीनो—यह अहिसा का नेगेटिव रूप है।

सबके साथ मैत्री करो, समता की साधना करो, सबके प्रति सम-दृष्टि रखो, सहिष्णुता का विकास करो, सद्भाव की वृद्धि करो आदि अहिंसा का पोजिटिव रूप है।

अहिंसा के इस औपदेशिक स्वरूप को प्रायोगिक रूप कैसे मिले ? इस प्रक्रिया के प्रस्तुतकरण का क्रम ही आगे चलकर प्रशिक्षण के साथ जुड़ जाता है। ऊपर वर्णित सब बिन्दुओ का वैयक्तिक या सामूहिक रूप मे अभ्यास किया जाए, कराया जाए और प्रत्येक परिस्थिति मे सन्तुलन रखा जाए तो प्रशिक्षण का स्वरूप प्रभावी बन सकता है।

सैनिको के प्रशिक्षण शिविर चलते हैं। उनमे सैनिको को शस्त्र प्रयोग करना सिखाया जाता है। साथ-साथ यह भी सिखाया जाता है कि मरने का प्रसग उपस्थित होने पर भी पीछे नही हटना है। यह बात उनके रोम-रोम मे रमा दी जाती है। यह प्रशिक्षण समाज एव राष्ट्र की रक्षा के लिए दिया जाता है।

अहिंसा का प्रशिक्षण, आत्मरक्षा, अध्यात्मरक्षा अथवा मानवीय मूल्यो की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। 'मरणधार सुध मग दिया, मार सके मारै नही ताको नाम मरद' आदि वाक्य हमारे लिए आदर्श है। शान्ति और समभाव से मरना भी एक प्रकार की तपस्या है, इस आस्था के साथ प्रतिकूल परिस्थितियो का मुकाबला करना अहिंसा के

प्रशिक्षण का एक प्रयोग है। इसी शृखला मे प्रयोग की कुछ और कडिया जुड सकती है। पर ये प्रयोग तभी सफल हो सकते है, जब अहिंसा मे प्रगाढ आस्था हो और जीवन की आसक्ति क्षीण हो।

प्रश्न महात्मा गाधी ने स्वाधीनता आन्दोलन मे अहिंसा का सफल प्रयोग किया था। वह सघर्ष विदेशी सत्ता से था। आज कश्मीर, पजाब और असम को आतकवाद से मुक्त कराने के लिए अहिसक समाधान क्या हो सकता है ?

उत्तर : महात्मा गाधी का एक सपना था। उनके सामने एक लक्ष्य था—राष्ट्र की स्वाधीनता। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए मर-मिटने का हिमालयी सकल्प। हसते-हसते मर जाना, पर मारने वालो पर अश मात्र भी आक्रोश नही करना, कितनी बडी साधना है !

ऐसी ही साधना के लिए देश के एक बडे वर्ग को सकल्पित होना पडेगा। आतकवाद का जहा तक सवाल है, वह किसी एक प्रदेश या देश तक सीमित नही है। पूरे विश्व मे यत्र-तत्र वह सिर उठा रहा है। उसके प्रतिरोध मे व्यापक अभियान जरूरी है। नामाकित प्रदेशो की समस्या को समाहित करने के लिए एक लक्ष्यबद्ध और योजनाबद्ध कार्य-क्रम चलाना होगा। इसके लिए बलिदानी मनोवृत्ति वाले उत्साही लोग हो और उनका नेतृत्व महात्मा गाधी जैसे व्यक्तित्व के हाथ मे हो तो आज भी सभावनाओ का सूरज अस्त नही हुआ है। एक ओर निष्ठा-शील, निष्काम, तटस्थ और प्रभावशाली व्यक्ति के नेतृत्व मे अहिंसात्मक प्रयोग हो, दूसरी ओर आतकवाद से जुडे लोगो के हृदय-परिवर्तन का प्रयास हो, तो यह प्रयोग एक असाधारण प्रयोग हो सकता है। शर्त एक ही है कि इस कार्यक्रम से जुडने वाले सब लोगो की अहिंसा मे गहरी आस्था हो और उनका उचित प्रशिक्षण हो।

प्रश्न जैन समाज मे हजारो साधु-साध्विया है। एक नयी समण श्रेणी का प्रादुर्भाव आपने किया है। सशक्त मुमुक्षु बहनो का एक बडा दल आपके पास है। हिसा के प्रतिकार के लिए वैचारिक और भावनात्मक साधन के अलावा क्या इनका कोई अन्य क्रियात्मक उपयोग किया जा सकता है ?

उत्तर हिंसा का कोई निश्चित चेहरा नही है। वह अनेक रूपो मे राष्ट्र के लिए चुनौती बन रही है। हमने व्यक्तिश अनेक लोगो को समझाने और उनका हृदय परिवर्तन करने के प्रयोग किए है। अनेक डाकुओ ने अपने जीवन की दिशा बदली है। जेल के सीखचो मे बन्द अपराधियो का मन बदला है। हजारो-हजारो लोग व्यसनमुक्त हुए है। इस काम के लिए स्वय कष्ट सहकर भी अनवरत पद यात्राओ का प्रयोग किया है। आज

के अत्यधिक सुविधावादी युग मे ऐसा किया जा रहा है। इससे आगे कोई प्रयोग नही हो सकती, यह बात नही है।

आतकवाद की समस्या कोई छोटी समस्या नही है। इस समस्या का मूलभूत उद्देश्य जब तक पकड मे नही आता है, तब तक समाधान की गहराई मे उतरने की बात नही बन सकती। पजाब समस्या का मूल ध्यान मे आया तो हमने सन्त लोगोवाल से मिलकर चर्चा की। उलझी हुई गुत्थियो के बीच एक रास्ता बना। यदि लोगोवाल रहते तो वह रास्ता और अधिक प्रशस्त हो सकता था। पर उनकी हत्या ने एक नयी समस्या खडी कर दी।

हर एक समस्या का समाधान हो ही जाएगा, ऐसी गर्वोक्ति कोई नही कर सकता। प्रयोग करना हमारा काम है। पजाब जैसे अशान्त प्रदेश मे आज भी हमारे साधु-साध्वियो के अनेक वर्ग विहार कर रहे है। क्या यह एक प्रयोग नही है ?

प्रश्न : हिंसक शक्तिया भिन्न-भिन्न विचारधाराओ के रहते हुए भी सगठित होकर अपना कर्तव्य दिखा रही है। एक विशिष्ट अहिंसक धर्मनेता के रूप मे आप हिंसक शक्तियों को सगठित करने की दृष्टि से क्या मार्ग-दर्शन देंगे ? क्या इस सम्बन्ध मे कोई योजना आपके चिन्तन मे है ?

उत्तर : हिंसा या हिंसक शक्तियो मे जैसी संहारकता है, वैसा कोई चेप भी अवश्य है। उस कारण वे मिल जाती है और सगठित होकर अपने लक्ष्य को साध लेती है। अहिंसक शक्तिया अधिक सक्षम होकर भी मिलनसार नही है या मिलने में कठिनाई का अनुभव करती हैं। अहिंसक लोगों की अपनी दुर्बलता भी उनके सगठन की बाधा है। इस बाधा को निरस्त करने के लिए अहिंसको को अहिंसा की शक्ति पर कभी खडित न होने वाला विश्वास करना होगा। हमारी तो यह निश्चित आस्था है कि निश्चिन्तता से जीने के लिए अहिंसक शक्तियो को सगठित होना ही होगा। इनके संगठन से प्रवाहित ऊर्जा हिंसा के घरौंदो को तोडने मे सक्षम हो सकती है।

पिछले दिनो संवाद पढ़ा कि गोर्बाचेव को नजरबन्द कर दिया गया। उनके दो बडे कार्यक्रमो—पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोश्त—को जड-मूल से समाप्त करने का अभियान चलाया गया। पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोश्त को समाप्त करने का स्वप्न देखने वाले स्वय समाप्त हो गए, यह कोई छोटी बात नही है। प्रतीक्षा एक ही है कि वैसा समय कब आए ? **'मुहुत्ताणं मुहुत्तेसु मुहुत्तो होइ तारिसो'**—विश्व के इतिहास मे कोई क्षण ऐसा आता है, जब कठिन से कठिन काम पूरा हो जाता है और

उसकी छाप सब लोगो पर होती है। वैसे समय की प्रतीक्षा करने मे मेरा विश्वास कम है। किन्तु कुछ कार्य देश और काल की अनुकूलता मे ही सम्भव हो सकते हैं।

प्रश्न वर्तमान परिस्थितियो मे आपको भारत का भविष्य कैसा लगता है ? लोगो की लोकतन्त्र से आस्था डिगने लगी है। वैकल्पिक समाधान क्या हो सकता है ?

उत्तर मैं न तो किसी का भविष्यवक्ता हू और न बनना चाहता हू। किन्तु वस्तुस्थिति का व्याख्याता बनने मे कोई कठिनाई नही है। लोगो की लोकतन्त्र से आस्था हट गई—इस वाक्य को मै एकागी मानता हू। जो चल रहा है, वह सही लोकतन्त्र है क्या ? यदि नही तो उस पर आस्था टिकेगी कैसे ? व्यक्ति जिस विचारधारा या सिद्धान्त मे आस्था रखकर चलता है, वह सही न हो तो आस्था कब तक टिकेगी ? लोकतन्त्र के प्रति अनास्था का स्वर उठा है, इसमे गलती लोगो की नही, लोकतन्त्र को चलाने वालो की है।

अणुव्रत दर्शन मे लोकतन्त्र के शुद्ध स्वरूप को देखा जा सकता है। एक दिन आएगा, जिस दिन अधिकाश लोगो को यह अनुभव होगा कि लोकतन्त्र की गाडी अणुव्रत की पटरी पर ही चल सकती है। मनुष्य यो जगल मे कब तक भटकता रहेगा ? आखिर उसे रास्ते की खोज तो करनी ही होगी। मेरे अभिमत से लोकतन्त्र का विकल्प लोकतन्त्र ही है, यदि वह सही और सक्षम हो।

कैसे मिटेगी अशान्ति और अराजकता

प्रश्न : आप सन्त है। सारी मानव जाति के उद्धार के लिए व्याकुल हैं। विश्व-शान्ति और समृद्धि आपका लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आप क्या कर रहे हैं? इसके लिए आपने किस मार्ग का अवलम्बन लिया है? कृपया इस सम्बन्ध मे समुचित मार्ग-दर्शन करें।

उत्तर : हम अपनी साधना के बारे मे सोचते हैं तो विश्व सन्दर्भ मे भी चिन्तन करते है। आध्यात्मिक या व्यापक दृष्टि वाले व्यक्ति चाहते हैं कि पूरी मानव जाति का कल्याण हो। हमारे मन मे भी वह तडप है। हम सन्तो की दो श्रेणिया होती है। कुछ सन्त केवल आत्मसाधना का लक्ष्य लेकर चलते है और कुछ आत्मसाधना के साथ जन-कल्याण की बात भी सोचते है। हमने अपनी साधना के साथ जनता को पथ-दर्शन देने की बात भी स्वीकृत की है। व्यक्तिगत समस्याओ का समाधान व्यक्तिगत स्तर पर सुझाते रहे है। सार्वभौम समस्याओं से निपटने के लिए हमने अणुव्रत का अभियान शुरू किया। वैसे हमारी आस्था यह है कि किसी का कल्याण कोई दूसरा नही कर सकता। अपने कल्याण की जिम्मेवारी स्वय पर है। मार्गदर्शक या प्रेरक के रूप मे कोई व्यक्ति निमित्त बन सकता है। अणुव्रत के माध्यम से हम जनकल्याण के निमित्त जरूर बन रहे है। पर इसके लिए पुरुषार्थ तो व्यक्ति-व्यक्ति को करना होगा। जो मनुष्य अणुव्रत के आदर्शों के अनुसार चलेगा, वह अपना उद्धार निश्चित रूप से कर सकेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रश्न : ऐसा लगता है कि चारो ओर अशान्ति और अराजकता बढती जा रही है। इनके लिए आप किसे जिम्मेदार मानते है? इनके क्या-क्या कारण हो सकते हैं और उनके निवारण हेतु किन प्रयासो की आवश्यकता है?

उत्तर : अशान्ति और अराजकता बढती जा रही है, यह प्रत्यक्ष है। इसकी जिम्मेदारी किसी एक व्यक्ति या वर्ग पर नही छोडी जा सकती। वर्तमान

मे सत्ता के सिंहासन पर आरूढ व्यक्तियो को इसका जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। पर वे अकेले ही दोषी कैसे होगे ? जनता जागरूक और नीतिनिष्ठ होगी तो अराजकता चलेगी कैसे ? हमारे अभिमत से कमोवेश रूप मे इसकी जिम्मेदारी सभी वर्गों की है। अशान्ति और अराजकता को मिटाने या कम करने के कुछ उपाय सुझाए जा सकते है। जैसे—

- सत्ता और सम्पदा को हस्तगत करने के व्यामोह को छोडना।
- भौतिक सुविधाओ को जुटाने के लिए होने वाली भागमभाग से बचना।
- भौतिक लक्ष्यो को जैसे-तैसे पाने की मनोवृत्ति को बदलना।
- मानवीय मूल्यो को जीवनगत करने का लक्ष्य।
- आध्यात्मिक और नैतिक चेतना का जागरण।
- राष्ट्रीय चेतना या राष्ट्रीय प्रेम का विकास।

इन बिन्दुओ के प्रति व्यक्तिगत और सामूहिक जागरूकता अशान्ति और अराजकता के प्रभाव को क्षीण कर सकती है।

प्रश्न धर्म व सम्प्रदाय से क्या अर्थ है ? ये दोनो अलग-अलग है या एक ? आजकल जिस तरह धर्म को राजनीति मे घसीटा जा रहा है, उसे आप कहा तक उचित मानते है ? अगर उचित नही मानते तो इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर: आत्मशुद्धि एवं आत्मशान्ति के लिए सत्य, अहिंसा आदि व्रतो की आराधना का नाम धर्म है। जबकि सम्प्रदाय का अर्थ है उपासना प्रधान परम्परा। प्रतीकात्मक शैली मे यो कहा जा सकता है—फल का रस धर्म और उसका छिलका सम्प्रदाय है। छिलके का उपयोग रस की सुरक्षा के लिए है। इसी प्रकार सम्प्रदाय का उपयोग धर्म की सुरक्षा है। धर्म से हमारा अभिप्राय केवल आध्यात्मिक, नैतिक मूल्यो से है तो वे किसी भी नीति के साथ जुडकर उसका हित ही करेंगे। यदि सम्प्रदाय को राजनीति के साथ जोड दिया गया तो उससे कठिनाई अवश्य बढ़ेगी।

मजहब रूपी धर्म को राजनीति से दूर रखने का सीधा उपाय है संविधान की उस धारा का विश्लेषण, जो राष्ट्र को धर्मनिरपेक्षता अर्थात् सम्प्रदाय-निरपेक्ष रखना चाहती है। कुछ लोग धर्मनिरपेक्ष शब्द को लेकर उलझ जाते है। हमारे अभिमत के अनुसार धर्मनिरपेक्ष शब्द के प्रयोग मे विधान-निर्माता की मशा यह रही है कि देश पर किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रभुत्व न हो। पर इस शब्द के साथ जनमी गलतफहमियो के कारण धार्मिक मूल्यो की भी उपेक्षा होने लगी। शब्द मे भी शक्ति होती है। उपयुक्त शब्द का प्रयोग हो तो किसी प्रकार की भ्रान्ति को अवकाश

नही मिलता। धर्मनिरपेक्षता शब्द पर कई बार खुलकर चर्चा हो चुकी है। किन्तु जब तक राजनीति मे स्वार्थ और वोटो की प्रमुखता रहेगी, वह सम्प्रदाय को वैसाखियो के रूप मे काम लेती रहेगी। लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली मे किसी भी सम्प्रदाय को प्रमुखता देना नितान्त अवाछनीय है, इस सचाई से जन-जन को परिचित करके ही धर्म और राजनीति के मिश्रण को रोका जा सकता है।

प्रश्न : साधु-सतो व धर्मगुरुओ की राजनीति मे भागीदारी होनी चाहिए या नही ? यदि होनी चाहिए तो किस सीमा तक ?

उत्तर : साधु-सतो को दलगत राजनीति से सर्वथा दूर रहना चाहिए। राजनीति पर धर्म का नियन्त्रण रहे, इस दृष्टि से धर्मगुरु राजनीतिक लोगो को आध्यात्मिक एवं नैतिक पथ-दर्शन देते रहे, इस सीमा तक उनकी भागीदारी मे कोई आपत्ति नही लगती।

प्रश्न : साम्प्रदायिक सद्भाव मे धर्मगुरुओ की भूमिका पर प्रकाश डालने की कृपा करें। (कार्य, व्यवहार, अपेक्षाए, जिम्मेदारिया, सभा, सम्मेलन आदि से)

उत्तर : रुचिभेद और विचारभेद के अनुसार प्रचलित उपासना पद्धतियो को सम्यक् अंजाम देने के लिए सम्प्रदाय अस्तित्व मे आते है। उनकी बागडोर धर्मगुरुओ के हाथ मे रहती है। ऐसी स्थिति मे सम्प्रदायो के बीच सद्भावना बनाए रखने की जिम्मेवारी भी उन पर आती है। यदि धर्मगुरु आपस मे झगडते रहे या एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते रहे तो उनके अनुयायी सद्भावना का सूत्र कहा खोजेंगे ?

बढते हुए साम्प्रदायिक तनावो को कम करने का एक उपाय है—धर्मगुरुओ के शिखर-सम्मेलन। उन सम्मेलनो मे उपस्थित धर्मगुरु साम्प्रदायिक सकीर्णता से ऊपर उठकर मानव जाति के हित मे चिन्तन करे, चिन्तन को निर्णायण बिन्दु तक पहुचाए और निर्णय की क्रियान्विति मे तत्परता दिखाए। व्यक्तिगत आग्रह और प्रतिष्ठा का व्यामोह छोडकर सकारात्मक दृष्टि से कोई भी काम होगा, उसका फलित साम्प्रदायिक सद्भाव ही होगा। इसके लिए हमे अपने-अपने दायरो को व्यापक बनाना होगा।

प्रश्न प्राय हर विवाद की जड सहिष्णुता (सहनशीलता) का अभाव है, माना जाता है। आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर : हमारे अभिमत से असहिष्णुता एक कारण है। और भी कुछ कारण है जिन्हे नजरअदाज करने से वास्तविकता उजागर नही हो सकती। कुछ कारणो का उल्लेख यहा किया जा रहा है। जैसे—

- एकागी दृष्टिकोण
- आग्रही मनोवृत्ति
- सचाई को स्वीकार न करने का मनोभाव
- व्यक्ति का अपना अज्ञान
- समभाव का अभाव

प्रश्न आजकल मन्दिर, मस्जिद विवाद ने काफी तूल पकड रखा है। मेरा तात्पर्य अयोध्या के विवाद से है। इस सम्बन्ध मे आपके क्या विचार है ? किस मार्ग को अपनाने से इस विवाद का सहज और शान्तिपूर्वक हल हो सकता है ?

उत्तर यह विवाद या प्रश्न उतना जटिल नही है, जितना जटिल इसे वना दिया गया है। आग्रह-विग्रह या खीचातानी से यह विवाद समाप्त हो जाएगा, यह सम्भव नही लगता। इसे समाप्त करने का सर्वोत्तम तरीका है—सौहार्दपूर्ण वातावरण मे द्विपाक्षिक वातचीत। यह वार्ता तभी सफल हो सकती है, जब दोनो पक्ष अपने-अपने आग्रह छोडकर, राष्ट्रहित को सामने रखकर, प्रेस्टिज की भावना से ऊपर उठकर उदारभाव से कोई निर्णय ले और शीघ्र ही उसकी क्रियान्वित करे।

अयोध्या के सन्दर्भ से एक वात मैंने पहले कही थी कि मुस्लिम बन्धु बिना किसी बाध्यता या दबाव के अपने उदार चिन्तन से सौहार्दपूर्ण तरीके से मन्दिर-निर्माण मे बाधा न डाले तो हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या का एक स्थायी समाधान हो सकता है। इससे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और आपसी सौहार्द की सम्भावनाए वढ सकती है।

जिस देश मे हिन्दू और मुसलमान—दोनो को साथ-साथ रहना है, वहा आए दिन सघर्ष और पारस्परिक सन्देह का सिरदर्द मोल लेकर रहना किसी के लिए श्रेयस्कर नही है।

प्रश्न आज का मानव परेशान, तनावग्रस्त व अनेक प्रकार के कष्टो से दु खी है। इसके क्या कारण है ? क्या अध्यात्म से मानव की विरक्ति इसका कारण है ? अध्यात्म के प्रति अनुराग पैदा करने के लिए क्या किया जाना चाहिए ?

उत्तर मनुष्य की परेशानियो, तनाव और अन्य अनेक कष्टो का सर्जक वह स्वय है। उसकी आकाक्षाए, भोगवादी मनोवृत्तिया और पदार्थ से सुख पाने का दृष्टिकोण उसे दु खो की ऐसी अन्धेरी खन्दक मे ले जाकर छोडता है, जहा सुख की एक किरण का स्पर्श भी नही हो सकता। सामाजिक और राजनीतिक वातावरण, आर्थिक तगी, मंहगाई, वेरोजगारी, प्रदर्शन, आडम्बर, आपसी प्रतिस्पर्धाए आदि अनेक कारण

हैं, जो व्यक्ति की परेशानिया बढ़ाने वाले हैं। अध्यात्म से विराग और भौतिकता से अनुराग इस परिस्थिति का प्रमुख निमित्त है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य के मन मे अध्यात्म के प्रति अनुराग जगाना नितान्त अपेक्षित है।

अध्यात्म जीवन का एक मूल्यवान, सार्थक और उपयोगी पक्ष है। समता, करुणा, सयम, सादगी, सहिष्णुता, सामजस्य आदि जीवन मूल्य अध्यात्म की पौध पर ही विकास पा सकते है। इसके लिए आध्यात्मिक साहित्य का अध्ययन, सत्सग, ध्यान, अनुप्रेक्षा आदि प्रयोगो का सहारा बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। तनाव की समस्या का समाधान प्रेक्षाध्यान पद्धति के द्वारा बहुत कम समय मे हो सकता है, विद्यार्थी प्रारम्भ से ही अध्यात्म के प्रति अनुरागी बने, इस दृष्टि से जीवन विज्ञान का प्रयोग कार्यकारी हो सकता है।

प्रश्न : चरित्र-निर्माण मे धार्मिक प्रवृत्तियो के समावेश की आवश्यकता क्या आप महसूस करते है?

उत्तर : धार्मिक प्रवृत्तियो के दो रूप हैं—आचरणप्रधान और उपासनाप्रधान। चरित्र-निर्माण मे दोनो का उपयोग है। सयम, त्याग, तपस्या, सदाचार आदि धार्मिक प्रवृत्तिया चरित्र की मूल घटक है। रूढ क्रियाकाण्ड रूप उपासना के साथ हमारी सहमति नही है। किन्तु चरित्र को पुष्ट करने वाली जागरूक उपासना से हमारा विरोध भी नही है। उपासना की सीढ़ियो पर आरोहण करके चरित्र के मन्दिर तक पहुंचने मे सुविधा रहती है। इस दृष्टि से हम धार्मिक प्रवृत्तियो को भी आवश्यक मानते है।

प्रश्न : समाज की प्रगति मे महिलाओं की भागीदारी व इनको आगे लाने के लिए किन-किन प्रयासों की आवश्यकता है?

उत्तर : 'आधी दुनिया' के रूप मे जिसकी पहचान होती है, समाज मे उन महिलाओ की सशक्त भागीदारी न हो तो समाज का सर्वांगीण विकास हो नही सकता। यह कथन महिला और पुरुष की बराबरी की वकालत नही है। हमारा मंतव्य यह है कि महिलाए पुरुषो के समानाधिकार की बात को छोड़ अपने दायित्व को विकसित करने के लिए सजग रहे। अपना कार्यक्षेत्र घर और दफ्तर, दोनो को बना सकती हैं, किन्तु घर-परिवार की उपेक्षा कर बाहर जाने का औचित्य समझ मे नहीं आता।

महिला समाज को आगे लाने के लिए आवश्यक है कि समाज मे उसके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का निर्माण हो। औरते क्या कर सकती है? जैसी शब्दावली उनके मनोबल को कम करती है। महिलाओं

की दीनभावना समाप्त हो, उन्हे अपनी क्षमताओ को काम मे लाने के लिए पर्याप्त अवसर दिये जाये, उन्हे स्वतन्त्र चिन्तन के लिए प्रोत्साहित किया जाये और खान-पान एव परिधान तक सीमित उनके नजरिए को सस्कार निर्माण जैसे रचनात्मक कार्यों की दिशा दी जाए, तभी उनके कर्तृत्व मे निखार आ सकता है। हमने अपने धर्मसघ मे साध्वियो को ऐसे अवसर दिये है। उनके सुपरिणामो से हमे सन्तोष है। अव हम अपनी साध्वियो के माध्यम से समाज की महिलाओ के जागरण का काम आगे वढा रहे है। इसमे भी हमे अच्छी सफलता मिली है। हमारा यह विश्वास पुष्ट होता जा रहा है कि सही दिशा और सही मार्ग-दर्शन मिलने पर महिलाओ की कार्यक्षमता बढ सकती है।

जनसामान्य के लिए अणुव्रत की योजना

प्रश्न : आचार्यश्री ! आप 'चरैवेति-चरैवेति' के व्यावहारिक मन्त्र-द्रष्टा हैं। छ: दशको की पद-यात्राओ से क्या आप सन्तुष्ट हैं ?

उत्तर : पदयात्रा हमारा जीवनव्रत है। जीवन भर के लिए जो व्रत स्वीकार किया, उसके पालन मे असन्तोष का तो प्रसग ही नही है। पदयात्रा हमारे सामने कोई बाध्यता की स्थिति नही थी। हमने अपनी इच्छा से यह पथ चुना है। इसमे हमे आनन्द की अनुभूति होती है और हमारी अनुभूतियो का दायरा व्यापक बनता है। हमारे मिशन की व्यापकता का एक कारण पदयात्रा भी है। इतने लम्बे समय तक पदयात्रा करने के बाद भी हमारे मन मे इसके प्रति कोई अरुचि नही है।

आज का युग पदयात्रा की प्रासगिकता के आगे प्रश्न चिह्न लगा सकता है। पर हमारी दृष्टि मे इसका शाश्वत मूल्य है और स्वयंसिद्ध उपयोग है। हम पदयात्रा को साधना और स्वास्थ्य की दृष्टि से तो आवश्यक मानते ही है, यह स्वावलम्बन का भी एक प्रयोग है। जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने का यह सरलतम उपाय है। हमने अपनी छोटी-सी जिन्दगी मे पदयात्रा के माध्यम से लाखो-लाखो लोगो से सीधा सम्पर्क साधा है, उनकी समस्याओ को समझा है और अपनी सीमा मे रहते हुए उनका समाधान सुझाया है। वैसे काम की कोई सीमा नही है, पर पदयात्राओ को लेकर हमे किसी प्रकार का असन्तोष नही है।

प्रश्न : दीक्षा के समय आपके सामने क्या लक्ष्य था ?

उत्तर : अत्तहियट्ठयाए—आत्महित को सामने रखकर ही हमने दीक्षा स्वीकार करने की बात सोची थी। उस अवस्था मे इससे बढकर कोई [illegible] लक्ष्य हो भी नही सकता था। दूसरा लक्ष्य था—गुरु के चरणों मे बैठकर ज्ञानार्जन करना। स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव कालूगणी के व्यक्तित्व का [illegible] मन पर अप्रतिम प्रभाव था। उनके प्रति पूर्ण रूप से समर्पित [illegible]

मनोभाव पुष्ट हो गया तो घर मे रहना असभव हो गया। दीक्षित होने के बाद अध्ययन और अनुभवो के आधार पर लक्ष्य का विस्तार होता गया।

प्रश्न क्या अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा आपने वह सब कुछ अर्जित कर लिया, जिसकी आपके मन मे आकाक्षा थी ?

उत्तर : अणुव्रत आन्दोलन का प्रारम्भ किसी आकाक्षा की पूर्ति के लिए नही हुआ। उस समय की अनिवार्य आवश्यकता के रूप मे अणुव्रत अस्तित्व मे आया। हमने अपनी शक्ति के अनुसार इसमे पुरुषार्थ का नियोजन किया। उसकी निष्पत्ति या परिणति को शब्दो से अभिव्यक्ति देना सभव नही लगता। इस सन्दर्भ मे इतना ही कहा जा सकता है कि अणुव्रत के कार्य-क्रमो को लेकर हमे आत्मतोष है। हम आज भी अपने सघ की शक्ति इसे जन-जन तक पहुचाने मे लगा रहे है। हमने कभी दावा नही किया कि हम पूरे ससार को अणुव्रती बना देंगे। पर हम जो काम कर रहे हैं, उसमे हमे रस है।

प्रश्न आपने मेवाड यात्रा को 'अहिंसा यात्रा' घोषित किया था। उस यात्रा की क्या सार्थकता रही ?

उत्तर एक दृष्टि से देखा जाए तो हमारी सभी यात्राए अहिंसा यात्राए रही है। मेवाड यात्रा को अहिंसा यात्रा के रूप मे घोषित किया गया, इसके पीछे एक विशेष उद्देश्य था। हमारी वह यात्रा मुख्य रूप से राजसमन्द के लिए थी। वहा अहिंसा के प्रशिक्षण की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित था। राजसमन्द के विश्वशाति निलयम् मे हमने विश्वभर के विद्वानो के साथ पाच दिनो तक अहिंसा के प्रशिक्षण के विषय मे चर्चा की।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलन होते रहते है। उनमे विश्वशाति की चर्चा होती है। किन्तु शाति की आधारभूमि अहिंसा के बारे मे इतनी मुक्त और व्यापक चर्चा कम हुई है। हमारी इस कान्फ्रेंस का उद्देश्य न तो विश्वशान्ति था और न खाडी युद्ध का विराम। इन तात्कालिक मुद्दो पर कभी भी और कही भी ध्यान दिया जा सकता है। पर समस्या के मूल तक पहुचना कठिन होता है। हमने सोचा—ससार मे हिंसा का प्रशिक्षण चल रहा है, विधिवत् प्रशिक्षण चल रहा है, तीव्रता से चल रहा है। फिर अहिंसा की इतनी उपेक्षा क्यो हो ? क्या अहिंसा का प्रशिक्षण नही हो सकता ? यदि हो सकता है तो उसके महत्त्व को उजागर करना चाहिए। हमे सतोष है कि पाच दिनो मे जो कुछ हुआ, कम नही हुआ। उससे अहिंसा के पक्ष मे सशक्त वातावरण बना।

हम चाहते है कि अहिंसा के प्रशिक्षण की चर्चा केवल चर्चा तक ही सीमित न रहे। इसकी सम्यक् क्रियान्विति हो। इस सन्दर्भ मे राजसमन्द घोषणा-पत्र भी तैयार किया गया। कुल मिलाकर वह यात्रा और सम्मेलन कल्पना से अधिक सफल रहा।

प्रश्न : कर्मणा जैन का प्रयोगात्मक स्वरूप आप क्या मानते है?

उत्तर : हमने कर्मणा जैन की पूरी प्रक्रिया तैयार की है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

धर्म की आराधना के लिए न किसी जाति की बाधा है और न किसी सम्प्रदाय की। वह तो जीवन का तत्त्व है उसका सम्बन्ध कर्म या आचरण के साथ है। भूल यह हुई कि उसे जन्म के साथ जोड दिया गया। जैनकुल मे जन्म लेने वाला जैन कहलाता है, भले ही उसका आचरण जैन धर्म के अनुरूप न हो। वैष्णव आदि किसी अन्य कुल मे जन्म लेने वाला व्यक्ति जैन नही कहलाता, भले ही उसका आचरण जैनधर्म के अनुरूप हो। भगवान महावीर ने कहा है—

कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

—जन्म से कोई व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, या शूद्र नही होता। उसर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने का आधार उसका आचरण है। धर्म के विषय मे भी यह सिद्धान्त लागू होता है। कोई भी व्यक्ति जन्मना धार्मिक नही हो सकता। जन्मना जाति हो सकती है, धर्म नही। जन्मना जैन या वैष्णव हो सकता है पर अणुव्रती नही। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को कर्मणा धार्मिक बनने का लक्ष्य निर्धारित करना है।

किसी भी जाति, कुल या सम्प्रदाय मे जन्म लेने वाला कर्मणा जैन बन सकता है। जन्मना जैन व्यक्ति भी जब तक कर्मणा जैन नही बनता है, तब तक वह सही अर्थ मे धार्मिक नही होता। कर्मणा जैन किसे माना जा सकता है? इसके लिए कुछ अर्हताए निश्चित हैं—

१. कर्मणा जैन वह होगा—
   (क) जिसका दृष्टिकोण सही हो।
   (ख) जिसका ज्ञान सही हो।
   (ग) जिसका आचरण सही हो।

२. कर्मणा जैन वह होगा—
   (क) जिसका अहिंसा मे विश्वास हो।
   (ख) जिसका अनाग्रह या सापेक्षता मे विश्वास हो।
   (ग) जिसका आत्मकर्तृत्व मे विश्वास हो।

(घ) जिसका आहार शुद्धि मे विश्वास हो।

३. कर्मणा जैन वह होगा—

(क) जो जातिवाद और छुआछूत को प्रश्रय न दे।

(ख) जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर रहे।

४ जो कर्मणा जैन होगा, वह अपने जीवन मे अहिंसा का विकास करेगा। इसके लिए वह भगवान महावीर को अपना आदर्श मानेगा और पथ-दर्शक के रूप मे गुरु को स्वीकार करेगा।

कर्मणा जैन के लिए न्यूनतम नियम—

१ मैं किसी निरपराध प्राणी की हत्या नही करूगा।

२ मैं आत्महत्या नही करूगा।

३. मैं मासाहार तथा मद्यपान नही करूगा।

४ मैं व्यसन मुक्त रहूगा।

५ मैं हराभरा बडा वृक्ष हाथ से नही काटूगा।

प्रश्न आप ऐसा करके क्या सम्प्रदाय वहुल देश मे नया सम्प्रदाय नही बना रहे है?

उत्तर · हमारा लक्ष्य किसी नये सम्प्रदाय का निर्माण नही है। धर्म का सम्बन्ध आचरण के साथ हो और उसे विवेक से स्वीकार किया जाए, इस उद्देश्य मे हमने यह अभियान चलाया है। इसमे जन्मना जैनो को भी कर्मणा जैन बनाने का प्रावधान है। जैन हो या अजैन, जब तक धर्म कर्म या आचरण के साथ नही जुडेगा, उसका प्रभाव जीवन पर नही हो सकेगा। जो धर्म जीवन को प्रभावित न कर पाए, उससे क्या आशा की जा सकती है? हमारी दृष्टि किसी नये सम्प्रदाय को पैदा करने की नही, भगवान महावीर के दर्शन को व्यापक बनाने की है।

प्रश्न : आपने बगडी मे अपने एक प्रवचन मे कहा था—जैन धर्म कोई सप्रदाय नही, विचार है। तो फिर विविध जैन सप्रदायो मे पूजा या उपासना की पद्धतियो को लेकर टकराव क्यो है? इस समस्या को सुलझाने के लिए आप क्या सुझाव देगे।

उत्तर · सच्चाई तो यही है कि जैन धर्म कोई सप्रदाय नही है। भगवान महावीर ने जिस रूप मे धर्म की व्याख्या की, वह विचार या दर्शन से अधिक कुछ भी नही है। उस दृष्टि से धर्म को पूजापाठ मे उलझाने का कोई औचित्य भी नही है। पूजापाठ सही अर्थ मे धर्म नही है, यह बात कहकर मैं धार्मिक लोगो को उनकी उपासना विधि से विमुख करना नही चाहता। पर पूजापाठ को ही धर्म मान लेने से जो विडम्बना हुई है, उसे न समझना भी अच्छी बात नही है। पूजापाठ से धार्मिकता मे सहयोग मिले, इस

सीमा तक वह आदेय है। किन्तु वह धर्म का मुखौटा पहनकर धर्म बन जाता है तब टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। पूजा-उपासना की अपनी-अपनी आस्थाओ को जीवित रखकर भी धर्म के मौलिक स्वरूप को उजागर किया जाए तो अनेक समस्याएं स्वय तिरोहित हो जाएगी।

प्रश्न : हर आदमी के जीवन का कोई सपना होता है। क्या आपने भी कोई सपना देखा। यदि हा, तो क्या वह मूर्त रूप ले सका ?

उत्तर : हमने निद्रावस्था मे बहुत अधिक सपने नही देखे, पर हमारे दिवास्वप्नो की सूची बहुत लम्बी है। हमने जितने स्वप्न देखे, शायद कम लोग देख पाते है। सच तो यह है कि स्वप्न-द्रष्टा ही कुछ कर सकता है। हमें प्रसन्नता इस बात की है कि हमारे द्वारा देखे गए अनेक सपने फलवान बने है। हमारे सब स्वप्न सच हो गए, यह तो हम नहीं कह सकते। किन्तु हमारा विश्वास चिन्तन, निर्णय और क्रियान्विति की समन्विति मे है। इन तीनो में कालक्षेप हो जाए तो स्वप्न के फलित होने मे सन्देह रहता है। हमने कोई एक स्वप्न देखा हो तो उसकी चर्चा की जा सकती है। हमारा स्वभाव यह बन गया कि एक स्वप्न फलवान बनता है, उसके साथ ही कई नये स्वप्न उग आते है। इसी कारण कुछ लोग हमारी पहचान 'स्वप्न-द्रष्टा आचार्य' के रूप मे करते है।

प्रश्न : तेरापथी समुदाय के लिए जो कसौटी है, क्या आपके अनुयायी उस पर खरे उतर रहे है ?

उत्तर : हम अपने अनुयायियो को दो वर्गो मे विभक्त कर सकते है। जो लोग तेरापथी परिवार मे जन्म लेकर स्वय को तेरापथी मानते हैं, वे जन्मना तेरापथी हो सकते है। पर तेरापथी के लिए निर्धारित कसौटी पर खरे उतरने की बात उन पर पूरी तरह से लागू नही होती। जो लोग तेरापथ दर्शन को समझकर उसे स्वीकार करते हैं और उसके अनुरूप जीवन शैली अपनाते है, उनके आचरण पर किसी प्रकार का सन्देह क्यों किया जाए ? इस दृष्टि से हम यह तो नही कह सकते कि सभी तेरापंथी धार्मिक दृष्टि से कसौटी पर खरे उतरते है। पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि कसौटी पर खरे उतरने वाले लोग कम नही है, उनके चिन्तन और आचरण मे लम्बी-चौडी दूरी नही है।

प्रश्न . एक त्यागी-तपस्वी को वैभवशाली स्वागत-सत्कार मे कैसा अनुभव होता है ?

उत्तर : पहली बात तो यह है कि स्वागत व्यक्ति का नहीं, गुणो का हो। सम्मान त्यागी का नही त्याग का हो। अभिनन्दन तपस्वी का नही तपस्या का हो। दूसरी बात—त्यागी-तपस्वी व्यक्ति स्वागत-सम्मान की आकांक्षा

रखेगा तो उसका त्याग-तप बहुत बौना हो जाएगा। हमारे शास्त्रो मे लिखा है—'**इड्ढि च सक्कारण पूयणं च चए ठियप्पा**' गीता का स्थित-प्रज्ञ और जैन आगमो का आत्मस्थ व्यक्ति ऋद्धि सत्कार और पूजा की अपेक्षा नही रखता। वह उनसे दूर रहना चाहता है। उन लोगो को निमित्त बनाकर अध्यात्म अथवा त्याग प्रधान सस्कृति का स्वागत सम्मान हो तो उससे अनायास ही अनेक लोगो को अध्यात्म और त्याग की प्रेरणा मिलती है।

जैन मुनि पदयात्री होते है। सीमित साधनो से अपना जीवन यापन करते है। उनके लिए वैभवशाली स्वागत-सम्मान क्या होगा? वे तो वैभव की प्रतीक कोई चीज स्वीकार करते नही। उस उपलक्ष्य मे होने वाले आयोजनो को सादा बनाया जा सकता है। किन्तु उस अवसर पर उपस्थित होने वाले जनसमुदाय को न तो रोकना सभव है और न उसकी अपेक्षा ही है। आयोजक लोग सजगता रखे तो सहजता और सादगी का विकास किया जा सकता है। ऐसे समारोहो की गरिमा इसी से बढती है।

प्रश्न आपके स्वागत मे कही ऐसा होता हो तो आप उसका विरोध क्यो नही करते? उस अवसर पर लगने वाली राशि से अभावग्रस्त लोगो के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए आप अपने अनुयायियो को विवश क्यो नही करते?

उत्तर हमारा विश्वास बाध्यता मे नही, हृदय-परिवर्तन मे है। हमने अपने जीवन मे ऐसे अनेक प्रयोग किए है, जिससे परम्परागत तरीको मे बदलाव आया है। आज भी हमे जहा कही अतिरेक लगता है, हम तत्काल उस पर टिप्पणी करते है। पडाल और नगर की सजावट का प्रसग हो या अभिनन्दन पत्रो की प्रतिस्पर्द्धा। हमने इस सन्दर्भ मे समाज को अपने दृष्टिकोण से अवगत किया है। यही कारण है कि विगत कई वर्षों से समाज की सस्थाओ की ओर से न तो अभिनन्दन-पत्र भेट किए जाते है और न शहर मे पग-पग पर स्वागत द्वारो का हुजूम रहता है। व्यवस्थाओ मे काफी कुछ बदलाव आया है।

एक बात और है—अभिनन्दन, प्रशस्ति, स्वागत आदि मे हमारी विशेष रुचि भी नही है। हमने अपने जीवन मे अभिनन्दन और आलोचना दोनो की अतिया देखी है। बडे से बडा अभिनन्दन और बडी से बडी आलोचना। इन दोनो स्थितियो मे हमने अपने सन्तुलन को टूटने नही दिया, यह हमारे लिए सात्विक गौरव की बात है। हमारे चिन्तन के रास्ते सदा खुले है, जहा कही अतिरजन की बात सामने आती है, उस पर रोक लगाने मे हमे कोई कठिनाई नही होती।

आर्थिक दृष्टिकोण का जहा तक सवाल है, समाज के लोग काफी सचेत हुए हैं, हो रहे हैं। वे सामाजिक उपयोगिता और अभावग्रस्त लोगों की आवश्यकता को गभीरता से लेते है तथा उस क्षेत्र मे योजनाबद्ध तरीके से काम भी करते हैं। समय और परिस्थिति के अनुकूल हम भी अपनी सीमाओ मे रहते हुए समाज का मार्गदर्शन करते हैं। समाज उसे पकड़ता है और अपने चिन्तन और कार्य की दिशाओ को परिष्कृत करता है। फिर भी पूरा समाज एक साथ वदल जाए, यह कल्पना तो नही की जा सकती।

प्रश्न : जो लोग अणुव्रती वनते है, वे उनका निर्वाह करते हैं या नही, क्या सगठन इसकी जाच पडताल करता है?

उत्तर : कोई भी व्यक्ति व्रती बनता है, स्वेच्छा से वनता है। व्रत उस पर थोपे नही जाते। ऐसी स्थिति मे हम यह सन्देह क्यो करें कि अणुव्रती व्रतों का निर्वाह करते हैं या नही? सामान्यतः अणुव्रत अधिवेशन के अवसरों पर अणुव्रती लोग मिलते हैं तो अपने व्रतो की समीक्षा करते हैं। किसी के व्रत मे भग होता है तो वह स्वेच्छा से प्रायश्चित्त भी करता है। कोई भी सगठन किसी की जाच-पडताल मे समय और शक्ति का व्यय क्यों करेगा?

प्रश्न : आप जन-साधारण के लिए दुर्लभ क्यो होते जा रहे हैं?

उत्तर : हम जितने सुलभ हैं, इससे अधिक सुलभता क्या होगी? जन-साधारण के लिए दुर्लभ होने की वात हमारी समझ मे नही आई है। हमारी अपनी साधना और चर्या का जो समय है, उस समय तो जन-सम्पर्क मे बचना ही होगा।

प्रश्न : आपने सेवडा गाव मे एक सम्बोधन मे कहा था—'सन्त सुरसरी परमगति चले भुजंगी चाल' आप इस हिंसा प्रधान युग मे कौन-सी चाल चल रहे है?

उत्तर : भुजगी चाल से कवि का अभिप्राय यह है कि वे सीधे नहीं चलते। टेढे मेढे रास्तों से जन-जीवन को उपकृत करते हुए चलते हैं। इससे कितने लोग लाभान्वित हो सकते हैं। युग हिंसा प्रधान हो या अहिंसा प्रधान इससे सतो की गति मे कोई अन्तर नहीं आना चाहिए। अहिंसा मे हमारी गहरी आस्था है। हिंसा जितनी प्रवल हो रही है, हमारी आस्था उतनी ही बढ रही है। आज तो हमे यह अनुभव होता है कि समस्याओं का समाधान हिंसा के वल पर चाहने वाले लोगो को एक न एक दिन निराश होकर अहिंसा की शरण मे आना ही होगा। इस दृष्टि से हमारी अहिंसा प्रधान चाल मे किसी अवरोध की समावना नही है।

प्रश्न : आपकी जयपुर यात्रा का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर : हमारी इस बार की जयपुर यात्रा किसी विशेष उद्देश्य से प्रेरित नही है। अभी हम राह चलते जयपुर आए है। हमे जैन विश्व भारती, लाडनू जाना था। अजमेर से उसका सीधा रास्ता था। हमने थोडा चक्कर लिया और यहा आ गए। आए तो उद्देश्य भी वन गया। हमने सोचा—गावो मे रहकर हम जो कार्य करते है, कभी-कभी शहरो मे भी करना चाहिए। शहरो मे प्रबुद्ध लोग अधिक सख्या मे रहते हैं। वे बात को जल्दी पकड सकते है। दूसरी बात जयपुर के श्रावक समाज की हार्दिक तमन्ना थी कि हम एक बार यहा आए। इसके लिए यहा की विधानसभा के अध्यक्ष हरिशकर भाभडा, स्वास्थ्य मत्री ललित किशोर चतुर्वेदी, शिक्षामत्री हरिकुमार औदीच्य आदि अधिकारियो ने बलपूर्वक अपनी भावना रखी। तीसरी बात डॉक्टर एस आर मेहता, जो पिछले दो दशको से विशेष रूप से हमारे स्वास्थ्य की देखभाल कर रहे है। उन्होने भी चाहा कि हम एक बार जयपुर आ जाए तो स्वास्थ्य की पूरी जाच हो जाए। ये सब कारण मिले और हमने जयपुर आने का निर्णय ले लिया। जब हम यहा आ गए और हमे कुछ दिन रहना है तो कुछ काम भी करना ही है।

प्रश्न जैन समन्वय की आपकी परिकल्पना क्या है ? कृपया विस्तार से विवेचित करेंगे तो उचित रहेगा।

उत्तर इस प्रश्न को सुन मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त है अनेकान्त। अनेकान्त का फलित ही समन्वय है। इसमे किसी प्रकार के आग्रह या अभिनिवेश को स्थान नही है। ससार की हर एक समस्या का समाधान इसके द्वारा सभव है। ऐसी स्थिति मे जैन समन्वय की बात पर अटकना कैसा-कैसा ही लगता है।

हमे लगता है कि आज जैन धर्म सम्प्रदाय बनकर रह गया है। जैन कौन ? जो जैन परिवार मे जन्म लेता है, वह जैन। जन्मना जैन का यह स्वरूप जैन धर्म के विभक्तिकरण का कारण बना। जैन सम्प्रदाय मुख्यत दो भागो मे बटे—दिगम्बर और श्वेतावर। श्वेतावर दो सप्रदायो मे विभक्त है—मूर्तिपूजक और अमूर्तिपूजक। मूर्तिपूजक सप्रदाय के अनेक गच्छ है। अमूर्तिपूजक सप्रदाय के दो विभाग है—स्थानकवासी और तेरापथ। सक्षेप मे जैन सप्रदायो के विस्तार का यह स्वरूप है।

इन सभी सप्रदायो मे तेरापथ की कुछ दुर्लभ विशेषताए हैं। एक आचार्य का नेतृत्व, एक प्रकार की आचार व्यवस्था और तत्त्व निरूपण

की एकता—इस ऐक्य-त्रयी के आधार पर तेरापथ ने अपनी अलग पहचान बना ली। कुछ सैद्धान्तिक मौलिकताए भी इसके वैशिष्ट्य को उजागर करती है। समन्वय का सिद्धान्त हमे विरासत से प्राप्त है। पर जब से हमने अणुव्रत आन्दोलन का काम शुरू किया, एक चिन्तन उभरा कि जब तक हम जैनो मे समन्वय का मार्ग प्रशस्त नही कर पाएगे, अजैनो को निकट कैसे ले सकेंगे ? इसी चिन्तन की निष्पत्ति है—जैन समन्वय मच।

अपनी-अपनी आस्थाओ को सुरक्षित रखते हुए सब सम्प्रदायो के लोग सामूहिक प्रयत्न करे तो जैन एकता का अभियान आगे बढ सकता है। भगवान महावीर की २५वी निर्वाणशताब्दी के अवसर पर एक प्रयास हुआ था। उसके फलस्वरूप जैनो का एक ध्वज, एक प्रतीक और एक ग्रथ 'समणसुत्तं' सर्वमान्य हो गया। उस समय सोचे हुए मुद्दो मे दो काम शेष रह गए—सब जैनो की सवत्सरी एक हो तथा जैनो का एक मंच हो। इसके लिए सब सम्प्रदायो के आचार्य और श्रावक मिलकर योजना बनाए तो अच्छा काम हो सकता है। इस दृष्टि से जयपुर मे संगोष्ठी बुलाई गई है। हम उसके सकारात्मक परिणाम के लिए आशावादी है।

प्रश्न : इस विघटनकारी माहौल मे सर्व-धर्म-समन्वय के लिए आप क्या आशा रखते है ?

उत्तर : विघटनकारी माहौल मे ही समन्वय की मूल्यवत्ता है। पर इस समन्वय का सम्बन्ध धर्म से नही मजहब से है, सम्प्रदाय से है। धर्म एक सार्वभौम तत्त्व है। उसे बाटना असंभव है। अहिंसा, सत्य आदि का विभाजन कभी हो ही नही सकता। इनकी अवधारणाओ को लेकर जो विचार-भेद होता है, समन्वय उसमे किया जाता है। जैन-सम्प्रदायो मे समन्वय के लिए जिस पचसूत्री का उपयोग किया गया, उसी को आधार बनाकर सब सम्प्रदायो मे समन्वय स्थापित किया जा सकता है। समन्वय की भावना से प्रेरित होकर ही हमने अणुव्रत आदोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत एक सार्वभौम धर्म है। किसी भी जाति, सम्प्रदाय, वर्ग आदि से जुडा हुआ व्यक्ति उससे जुडा रहकर भी अणुव्रती बन सकता है और अणुव्रत को मानव धर्म के रूप मे स्वीकार कर सकता है।

प्रश्न . आज पग-पग पर सघर्ष और कठिनाइया बढ रही हैं। ऐसे दौर मे जन सामान्य क्या करे ?

उत्तर : सघर्ष और कठिनाइयो का सम्बन्ध किसी युग विशेष या समय विशेष से

साथ नहीं होता। इनकी सत्ता त्रैकालिक है। अतीत मे कठिनाइया नही थी, यह नही कहा जा सकता। वर्तमान मे जो कुछ है, प्रत्यक्ष है। भविष्य, वर्तमान का फलित होता है। आज जब सघर्ष और कठिनाइयो का दौर चल रहा है तो वह भविष्य मे कैसे रुकेगा? हमारा चिन्तन यह है कि दोष कठिनाइयो को नही देकर अपने आपको देना चाहिए। क्योकि अधिकाश कठिनाइया मनुष्य की अपनी पैदा की हुई हैं। कठिन परिस्थितियो मे रहता हुआ भी मनुष्य अच्छे ढग से जी सकता है, यदि वह अपनी जीवन शैली को बदल दे। हमारा यह निश्चित विश्वास है कि जिस दिन मनुष्य अपने दृष्टिकोण और जीवनशैली मे वदलाव ले आएगा, कोई भी कठिनाई उसके सुख-चैन और विकास मे बाधा नही डाल सकेगी।

प्रश्न . आपके सगठन मे भी राजनेताओ और प्रभावी सेठ-साहूकारो को ही प्रमुखता मिलती है। ऐसा क्यो? क्या इनके साधनो से ही अणुव्रत आदोलन सफल हो जाएगा।

उत्तर राजनेता हो, सेठ साहूकार हो, श्रमिक हो या और कोई, हमारा काम सबको प्रेरणा देने का है। हमारा सम्बन्ध आम आदमी से है। हम ऐसा मानते है कि प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियो की अपनी उपयोगिता है। उन सबके लिए नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो से परिचित होना और यथाशक्ति उनके अनुसार आचरण करना आवश्यक है। जो लोग सम्पर्क मे आएगे ही नही, उनको दिशा कैसे मिलेगी?

अणुव्रत की सफलता का जहा तक सवाल है, वह किसी से सफल नही है और सबसे सफल हैं। अणुव्रत को हमने मानवधर्म के रूप मे प्रस्तुत किया है। धर्म के तत्त्व अपने आप मे सफल-असफल क्यो होगे? जो लोग उसे स्वीकार करेगे, वे सफल होगे। बडे लोग अणुव्रती बनेगे तो औरो को भी प्रेरणा मिलेगी। भारतीय सस्कृति मे एक अवधारणा रही है कि यद यदाचरति श्रेष्ठ तत् तदेवेतरो जन —श्रेष्ठ लोग जो आचरण करेगे, सामान्य लोग उनका अनुसरण करेंगे। ऐसे श्रेष्ठ कौन हैं, जिनको उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सके। क्या सत्ता के सिंहासन पर वैठने वाले श्रेष्ठ है? क्या वैभव सम्पन्न लोग श्रेष्ठ है? क्या साहित्यकार, पत्रकार श्रेष्ठ है? पिछले दिनो मुख्यमंत्री के सामने हमने यही वात रखी थी। वे बोले—'उदाहरण बनने वाले लोग मिलें, यह बहुत मुश्किल है। हम इस सम्बन्ध मे निराश नही है। हमारी खोज जारी है। हमे अच्छे लोग मिल भी रहे हैं।

की एकता—इस ऐक्य-त्रयी के आधार पर तेरापथ ने अपनी अलग पहचान बना ली। कुछ सैद्धान्तिक मौलिकताए भी इसके वैशिष्ट्य को उजागर करती है। समन्वय का सिद्धान्त हमे विरासत से प्राप्त है। पर जब से हमने अणुव्रत आन्दोलन का काम शुरू किया, एक चिन्तन उभरा कि जब तक हम जैनो मे समन्वय का मार्ग प्रशस्त नही कर पाएगे, अजैनो को निकट कैसे ले सकेंगे? इसी चिन्तन की निष्पत्ति है—जैन समन्वय मंच।

अपनी-अपनी आस्थाओ को सुरक्षित रखते हुए सब सम्प्रदायों के लोग सामूहिक प्रयत्न करे तो जैन एकता का अभियान आगे बढ सकता है। भगवान महावीर की २५वी निर्वाणशताब्दी के अवसर पर एक प्रयास हुआ था। उसके फलस्वरूप जैनो का एक ध्वज, एक प्रतीक और एक ग्रथ 'समणसुत्तं' सर्वमान्य हो गया। उस समय सोचे हुए मुद्दो मे दो काम शेष रह गए—सब जैनो की सवत्सरी एक हो तथा जैनो का एक मंच हो। इसके लिए सब सम्प्रदायो के आचार्य और श्रावक मिलकर योजना बनाएं तो अच्छा काम हो सकता है। इस दृष्टि से जयपुर में संगोष्ठी बुलाई गई है। हम उसके सकारात्मक परिणाम के लिए आशावादी हैं।

प्रश्न : इस विघटनकारी माहौल में सर्व-धर्म-समन्वय के लिए आप क्या आशा रखते हैं?

उत्तर : विघटनकारी माहौल मे ही समन्वय की मूल्यवत्ता है। पर इस समन्वय का सम्बन्ध धर्म से नही मजहब से है, सम्प्रदाय से है। धर्म एक सार्वभौम तत्त्व है। उसे बांटना असभव है। अहिंसा, सत्य आदि का विभाजन कभी हो ही नहीं सकता। इनकी अवधारणाओ को लेकर जो विचार-भेद होता है, समन्वय उसमें किया जाता है। जैन-सम्प्रदायो मे समन्वय के लिए जिस पचसूत्री का उपयोग किया गया, उसी को आधार बनाकर सब सम्प्रदायो मे समन्वय स्थापित किया जा सकता है। समन्वय की भावना से प्रेरित होकर ही हमने अणुव्रत आदोलन का सूत्रपात किया। अणुव्रत एक सार्वभौम धर्म है। किसी भी जाति, सम्प्रदाय, वर्ग आदि मे जुड़ा हुआ व्यक्ति उससे जुडा रहकर भी अणुव्रती बन सकता है और अणुव्रत को मानव धर्म के रूप मे स्वीकार कर सकता है।

प्रश्न : आज पग-पग पर संघर्ष और कठिनाइया बढ रही है। ऐसे दौर में जन सामान्य क्या करे?

उत्तर : सघर्ष और कठिनाइयों का सम्बन्ध किसी युग विशेष या समय विशेष से

साथ नही होता। इनकी सत्ता त्रैकालिक है। अतीत मे कठिनाइया नही थी, यह नही कहा जा सकता। वर्तमान मे जो कुछ है, प्रत्यक्ष है। भविष्य, वर्तमान का फलित होता है। आज जब सघर्ष और कठिनाइयो का दौर चल रहा है तो वह भविष्य मे कैसे रुकेगा? हमारा चिन्तन यह है कि दोष कठिनाइयो को नही देकर अपने आपको देना चाहिए। क्योकि अधिकाश कठिनाइया मनुष्य की अपनी पैदा की हुई है। कठिन परि-स्थितियो मे रहता हुआ भी मनुष्य अच्छे ढग से जी सकता है, यदि वह अपनी जीवन शैली को बदल दे। हमारा यह निश्चित विश्वास है कि जिस दिन मनुष्य अपने दृष्टिकोण और जीवनशैली मे वदलाव ले आएगा, कोई भी कठिनाई उसके सुख-चैन और विकास मे वाधा नही डाल सकेगी।

प्रश्न आपके सगठन मे भी राजनेताओ और प्रभावी सेठ-साहूकारो को ही प्रमुखता मिलती है। ऐसा क्यो? क्या इनके साधनो से ही अणुव्रत आदोलन सफल हो जाएगा।

उत्तर राजनेता हो, सेठ साहूकार हो, श्रमिक हो या और कोई, हमारा काम सबको प्रेरणा देने का है। हमारा सम्वन्ध आम आदमी से है। हम ऐसा मानते है कि प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियो की अपनी उपयोगिता है। उन सबके लिए नैतिक एव आध्यात्मिक मूल्यो से परिचित होना और यथाशक्ति उनके अनुसार आचरण करना आवश्यक है। जो लोग सम्पर्क मे आएगे ही नही, उनको दिशा कैसे मिलेगी?

अणुव्रत की सफलता का जहा तक सवाल है, वह किसी से सफल नही है और सबसे सफल है। अणुव्रत को हमने मानवधर्म के रूप मे प्रस्तुत किया है। धर्म के तत्त्व अपने आप मे सफल-असफल क्यो होगे? जो लोग उसे स्वीकार करेंगे, वे सफल होगे। बडे लोग अणुव्रती वनेगे तो औरो को भी प्रेरणा मिलेगी। भारतीय सस्कृति मे एक अवधारणा रही है कि यद यदाचरति श्रेष्ठ तत् तदेवेतरो जन.—श्रेष्ठ लोग जो आचरण करेंगे, सामान्य लोग उनका अनुसरण करेंगे। ऐसे श्रेष्ठ कौन हैं, जिनको उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सके। क्या सत्ता के सिहासन पर बैठने वाले श्रेष्ठ हैं? क्या वैभव सम्पन्न लोग श्रेष्ठ है? क्या साहित्यकार, पत्रकार श्रेष्ठ है? पिछले दिनो मुख्यमत्री के सामने हमने यही बात रखी थी। वे बोले—'उदाहरण बनने वाले लोग मिलें, यह बहुत मुश्किल है। हम इस सम्वन्ध मे निराश नही है। हमारी खोज जारी है। हमे अच्छे लोग मिल भी रहे है।

प्रश्न : जन सामान्य के लिए आपके पास अणुव्रत की क्या योजनाए हैं ?

उत्तर : अणुव्रत पूरी तरह से जन-सामान्य के लिए ही है। जाति, सम्प्रदाय, रग, लिंग आदि सब भेदो से ऊपर अ से ह तक किसी भी श्रेणी का व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। अणुव्रत आचार सहिता की सभी धाराए युगीन समस्याओ को ध्यान मे रखकर निर्धारित की गई हैं। कुछ धाराए ऐसी है, जो अनिवार्य रूप से सबके लिए ग्राह्य हैं जैसे—

- निरपराध की हत्या नही करना।
- तोडफोड मूलक प्रवृत्तियो मे भाग नही लेना।
- साम्प्रदायिक अभिनिवेश और उन्माद से दूर रहना।
- जातिवाद से दूर रहना, किसी को अस्पृश्य नही मानना।
- व्यसन-मुक्त जीवन जीना।
- मादक व नशीली चीजो का परिहार करना।

जन-सामान्य इन नियमो को स्वीकार कर अपना आचरण बदल ले तो एक बडा काम हो सकता है। इसी दृष्टि से हम पदयात्रा करके गांव-गाव में जाते है। आम लोगों से सीधा सम्पर्क साधते हैं और उन्हें अणुव्रत के साथ जोडते है।

प्रश्न : आप सादगी का उपदेश देते है, पर आपके संगठन की पत्रिकाए चमक-दमक मे आगे है, महगी हैं उनका प्रचार सीमित है। तव विचार प्रसारण का क्या होगा ?

उत्तर : हम सादगी को जितना महत्त्व देते है, कला को भी उतना ही महत्त्व देते है। फूहडपन घर का हो, कपडो का हो, साहित्य का हो या पत्र-पत्रिकाओ का, व्यक्ति और सगठन की गरिमा को कम करता है। कलात्मकता और चमक-दमक मे जो अन्तर है, उसे समझना जरूरी है। चमक-दमक का सम्बन्ध कोरे प्रदर्शन से है। जबकि कला के प्रदर्शन मे दर्शन रहता है। सहज सुरुचिपूर्णता और प्रथम दर्शन मे ही पाठक को आकृष्ट करना—किसी भी पत्रिका के सम्पादक के कौशल की अभिव्यक्ति है।

महंगी या सस्ती वस्तु होती है, उसका सम्बन्ध मनुष्य की मानसिकता के साथ अधिक है। वह शरीर के लिए आवश्यकता की चीजे, फिर चाहे वे वस्त्र हो, जूते हो या और कुछ हो, उनके बारे मे कभी प्रश्न नही उठाता। साहित्य और पत्र-पत्रिकाओ के प्रसग मे यह प्रश्न

वार-वार उठता है। क्या आपने कभी यह सोचा है कि सव कुछ महंगा है तव ये सस्ते कहा से होगे ? साहित्य और पत्रिकाए विचार-प्रसारण का माध्यम है। इनका प्रचार सीमित है, यह वात सही है। जैसे-जैसे लोगो को अवगति मिल रही है, वे इधर ध्यान दे रहे हैं। गत वर्ष 'राजस्थान पत्रिका' ने इस काम मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे लाखो लोग हमारे विचारो से परिचित हुए हैं। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहा तो विचार-प्रसारण की समस्या स्वत सुलझ जाएगी।

प्रश्न नैतिकता की वाते करने वाले सगठन की पत्र-पत्रिकाए लेखको का लगातार शोषण कर रही है। न उन्हे पारिश्रमिक दिया जाता है और न अक। क्या यह कथनी-करनी की प्रवचना नही है ?

उत्तर · कोई भी पत्र-पत्रिका लेखक का शोषण करे, यह वाछनीय नही हो सकता। लेखक समाज का वह घटक होता है, जो पूरे समाज या राष्ट्र की चेतना को जगाता है। नैतिक मूल्यो के सवाहक पत्र-पत्रिकाओ से तो ऐसी कल्पना भी नही की जा सकती। किसी भी लेखक का लेख जिस पत्र-पत्रिका मे छपे, वह अक उसे उपलब्ध हो, यह व्यवहार की छोटी-सी वात है। इस क्रम मे किसी ओर से प्रमाद हुआ हो तो उसे प्रमाद ही माना जाएगा। अव रहा प्रश्न पारिश्रमिक का। पारिश्रमिक के लिए किसी लेखक के साथ अनुवध किया गया हो और फिर उसे पारिश्रमिक न दिया जाए, यह अनुचित है। विना किसी अनुवन्ध के कही लेख आदि प्रकाशित होते हो, वहा लेखक को अपनी स्थिति पहले से स्पष्ट कर देनी चाहिए। यद्यपि इन सव वातो से हमारा सीधा सम्वन्ध नही है। इस विषय मे प्रकाशक और सम्पादक से पूरी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। किन्तु जहा तक हमे ज्ञात है, अणुव्रत एक मिशन की पत्रिका है। इसमे आपवादिक स्थिति को छोडकर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था नही है।

प्रश्न · युद्ध और हिसा पर भव्य सम्मेलन करके प्रस्ताव तो पारित कर दिए जाते है, पर व्यावहारिक रूप से हृदय-परिवर्तन के प्रयत्न क्यो नही हो पा रहे है ? क्या इस सन्दर्भ मे आपके पास कोई योजना है ?

उत्तर केवल प्रस्ताव पारित करने मे हमारा विश्वास नही है। इसीलिए विगत फरवरी मे सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे विश्वशाति, युद्ध या हिसा को लेकर कोई वडी चर्चा नही की। हमारा उद्देश्य था—'अहिसा का प्रशिक्षण। युद्ध तात्कालिक समस्या है। युद्ध क्यो होता है ? उसके मूल तक पहुचकर उसे समाप्त करना और अहिसा की शोध एव उसके प्रयोग

की आवश्यकता अनुभव कराना।' इस दृष्टि से सम्मेलन मे अहिंसा के प्रशिक्षण की योजना पर विस्तार से चर्चा हुई। आश्चर्य की बात है कि प्रशासन, अध्यापन, पत्रकारिता आदि अनेक विषयो की ट्रेनिंग दी जाती है पर जीवन-मूल्यो की उपेक्षा हो रही है। अहिंसा एक ऐसा जीवन-मूल्य है, जिसका समुचित प्रशिक्षण दिया जाए तो हृदय-परिवर्तन की घटनाएं सहज रूप मे घटित हो सकती हैं।

प्रश्न : ज्ञान की परीक्षा सत्य से होती है और सत्य की आचरण से। आपके अनुयायियो के आचरण-परिवर्तन पर आप क्या सोचते है ?

उत्तर : अनुयायियो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—अनुयायी और धार्मिक। अनुयायी वे होते है, जो पीछे चलते हैं, अनुगमन करते है। अनुयायी के साथ आचरण-परिवर्तन की बात लागू नही होती है। आचरण उनका बदलता है, जो धार्मिक होते है। हम अपने अनुयायियो को धार्मिक बनाना चाहते है। अनुयायी जन्मना धार्मिक तो हो सकते है, पर कर्मणा धार्मिक नही हो सकते। व्यक्ति ज्ञान और कर्म से धार्मिक बने, इसके लिए एक पूरी योजना है। उसके अतिरिक्त अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान—इनके माध्यम से भी हम जीवन या आचरण-परिवर्तन का अभियान चला रहे हैं। जो लोग इनके अनुसार जीवन-शैली स्वीकार करते है, वे अनुयायी हो या नही, निश्चित रूप से बदलते है अन्यथा केवल अनुयायी होने से बदलाव की अपेक्षा भी नही की जा सकती।

प्रश्न : अब तक की अणुव्रत आन्दोलन की उपलब्धियो पर आपने कभी समीक्षात्मक विवेचना करवायी ?

उत्तर : हम अणुव्रत की समीक्षा करते और करवाते रहते हैं। रायगुमागी का जहां तक प्रश्न है, न अब तक कभी ऐसा किया और न ऐसा करने मे हमारा विश्वास है। अणुव्रत का अधिवेशन प्रतिवर्ष आयोजित होता है, उस समय वार्षिक कार्यक्रमो की समीक्षा तो होती ही है। उसमें उपलब्धियो के साथ अनुपलब्धियो और उसके कारणो की मीमासा भी की जाती है। आगामी वर्ष के कार्यक्रम का निर्धारण होता है। इस वर्ष हम अणुव्रत वर्ष (१ जुलाई, १९९० से ३० जून, १९९१) मना रहे हैं, वह भी समीक्षात्मक विवेचना की ही निष्पत्ति है।

प्रश्न : मर्यादा महोत्सव मे आपने फरमाया था—'मैं महाप्रज्ञ से कहना चाहता कि अब सघ मे एक महाप्रज्ञ से काम नही चलेगा।' तो क्या आप नये महाप्रज्ञ घोषित करने का सकेत दे रहे थे या सरकार मे अतिरिक्त

निदेशको की तरह नए पद स्थापित करने की तरफ इशारा था आपका ? या आप कुछ अन्य विचार रखते है इस सदर्भ मे ?

उत्तर · मेरा उद्देश्य किसी नये पद की व्यवस्था से नही था। अनेक पदो की ऐसी कोई अपेक्षा भी नही है। मेरा अभिप्राय गुणात्मकता से था, व्यक्तित्व-निर्माण से था। सघ के कार्य-क्षेत्र के विस्तार को देखते हुए ऐसे अनेक व्यक्तियो के निर्माण की अपेक्षा है, जिनकी प्रज्ञा जागृत हो।

प्रश्न आपका आगामी चातुर्मास कहा होगा ?

उत्तर अभी इस सम्वन्ध मे घोषणा नही की है। पहले हम मेवाड मे थे तो वहा उदयपुर, भीलवाडा, राजसमद, केलवा और आमेट—पाच क्षेत्र चातुर्मास के दावेदार थे। मेवाड से हम जयपुर आ गये और आगे जैन विश्व भारती तक जाना निर्णीत कर दिया। इससे उस इलाके मे राजलदेसर, वीदासर, सुजानगढ और लाडनू—ये चार क्षेत्र प्रार्थी हैं। अभी तक हमने अपना निर्णय दिया नही है।

प्रश्न क्या जयपुर मे चातुर्मास करना उचित नही होगा ?

उत्तर · उचित क्यो नही, जयपुर के अधिकारी और श्रद्धालु जन भी यहा चतुर्मास्य के लिए गहरी प्रार्थना कर रहे हैं। बडे शहरो मे रहने से कुछ आवश्यक काम करने मे सुविधा भी रहती है। किन्तु इस वार यहा चतुर्मास्य विताने का लक्ष्य नही है।

प्रश्न · राजस्थान सरकार शिक्षा पाठ्यक्रम मे नैतिक शिक्षा शामिल करने जा रही है। इस सदर्भ मे आप क्या सोचते है ?

उत्तर . नैतिक शिक्षा का चिन्तन और निर्णय एक बार पहले भी राजस्थान सरकार ने किया था। उस समय चन्दनमल जी वैद शिक्षामत्री थे। नैतिक शिक्षा की वात से किसी की असहमति नही हो सकती। प्रश्न एक ही है कि वह प्रभावी कैसे हो ? जीवन के साथ कैसे जुडे ? पुस्तको, भापणो, महापुरुषो की जीवन-गाथाओ या कहानियो से ही नैतिक शिक्षा का उद्देश्य पूरा हो जाता तो वह आज तक कभी का हो गया होता। क्योकि ऐसे प्रयत्न कई बार हुए है, हो रहे है और होते रहेगे।

हमारा चिन्तन यह है कि शिक्षा पाठ्यक्रम मे नैतिक शिक्षा की दृष्टि से थ्योरिटिकल और प्रेक्टिकल—दोनो पक्षो पर ध्यान देना जरूरी है। विद्यार्थी को केवल सिद्धान्त पढा दिये जाएगे तो पाठ्यक्रम का ही एक हिस्सा वनकर रह जाएगा। जव तक विद्यार्थी को प्रयोग नही करवाए जाएगे, उसमे रूपान्तरण की सभावना नही की जा सकेगी। हमने इस

दिशा में एक प्रयत्न किया है। शिक्षा के साथ एक नया विषय 'जीवन-विज्ञान' जोडा जाए तो नैतिक शिक्षा ही नही, उससे आगे का उद्देश्य भी फलित हो सकता है। जीवन-विज्ञान का सबध बायोलॉजी से नही, जीने की कला से है। इसमे पढना कम है और प्रयोग अधिक करना है। पिछले कुछ वर्षो से कई विद्यालयो मे इसका प्रयोग चल रहा है, वहा परिणाम भी अच्छे आए है। अनेक शिक्षाधिकारियो से भी हमारी इस सम्बन्ध मे बात हुई है, उनका सकारात्मक चिन्तन और इस पद्धति की वैज्ञानिकता के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि नैतिक शिक्षा के सबध में समीक्षा या निर्णय लेने वाले अधिकारी 'जीवन-विज्ञान' को भी समझ ले तो अच्छा क्रम बन सकता है।

प्रश्न : वैचारिक क्रान्ति बच्चे और महिलाएं आगे बढाती हैं। आपके सघ मे इन दोनो के लिए न प्रचार साहित्य है और न विचार साहित्य, जो विशेष रूप से उनके लिए ही तैयार किया गया है। इस प्रश्न पर आप क्या सोचते हैं?

उत्तर : बच्चो और महिलाओ को दिशा-बोध देने के लिए साहित्य की अच्छी भूमिका है, इसमे कोई दो मत नही हो सकता। यह भी सही है कि हमारे यहां से जो साहित्य लिखा गया है, बच्चो के लिए उपयोगी साहित्य कम है। पिछले कुछ समय से हमने इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। बच्चों के लिए कुछ कॉमिक्स लिखे गये है, लिखे जा रहे हैं। पर जितना काम हुआ है, वह पर्याप्त नही है। इसे आगे बढाने की अपेक्षा है।

महिलाओ के सबंध में चिन्तन किया जाये तो उनको लक्ष्य मे रखकर साहित्य का निर्माण भले ही न हुआ हो, पर उनके लिए उपयोगी साहित्य प्रचुर मात्रा मे है। हमने इस दृष्टि से अपनी साध्वियों को निर्देश दे रखा है। अनेक साध्विया और स्वय साध्वीप्रमुखा महिलाओ की चेतना को जगाने एव झकझोरने के लिए प्रयत्नशील हैं। वैसे राजस्थानी महिलाओ की स्थिति और मानसिकता मे जो बदलाव आया है, वह कम आश्चर्यजनक नही है। समाज की पत्र-पत्रिकाओ मे भी महिलाओ और बच्चो के लिए कुछ स्तम्भ हैं, जिनके अन्तर्गत उनके लिए उपयोगी रचनाओ का प्रकाशन होता है।

महिला समाज का अपना अखिल भारतीय सगठन है। उसकी अध्यक्षा सज्जन देवी चोपडा एक जागरूक और विचारशील महिला है। उनके नेतृत्व मे धार्मिक कार्यक्रमो के साथ सामाजिक और सेवामूलक प्रवृत्तियां व्यवस्थित रूप से चल रही है। महिला मण्डल का एक मासिक बुलेटिन 'नारी लोक' निकलता है। उसके माध्यम से महिलाओ को समसामयिक

प्रेरणा मिलती रहती है। फिर भी इस दिशा मे सुनियोजित रूप से साहित्य-निर्माण पर ध्यान देना जरूरी है।

प्रश्न : राजस्थानवासियो को आप कोई विशेष सन्देश देना चाहते हैं ?

उत्तर : राजस्थान एक ऐसा प्रदेश है, जहा के लोग पूरे देश मे ही नही, बाहर भी अनेक देशो मे रहते है। वे जहा भी गये है, अच्छा काम किया है, कर रहे है। प्रवासीय क्षेत्रो की भाषा सीखकर वे स्थानीय लोगो के साथ घुल-मिल रहे है। वहा व्यवस्थित होने मे उनके सामने अनेक प्रकार की कठिनाइया भी आयी। उन्हे सहकर भी वे आगे बढे हैं। राजस्थान के सभी लोगो से मैं एक बात कहना चाहता हू कि वे स्वार्थ की भूमिका से ऊपर उठकर परार्थ और परमार्थ की बात भी सोचे। अर्थ का अर्जन करने के साथ विसर्जन के सिद्धान्त को भी समझे। शादी-विवाह तथा अन्य समारोहो मे आडम्बर तथा प्रदर्शन के दुष्परिणामो को समझकर उनसे बचते रहे।

दूसरी बात—जहा समाज है, वहा सेवा की अपेक्षा रहती है। राजस्थान मे ही नही, राजस्थानी लोग जहा कही रहे, वहा वे इस विषय मे किसी से पीछे क्यो रहे ?

हम लोग पूरे विश्व की मानव-जाति के आध्यात्मिक और नैतिक विकास के लिए काम कर रहे है। राजस्थानी लोग उस कार्यक्रम मे विशेष लाभ उठाए। वे अपनी भावी पीढी के सस्कार-निर्माण हेतु जागरूक रहे। उसकी खान-पान विषयक शुद्धि को उपेक्षित न करें। उसे स्मोकिंग और ड्रिंकिंग जैसे दुर्व्यसनो से दूर रखे। ऐसा करके ही वे राजस्थान की धरती के धार्मिक एवं सास्कृतिक गौरव को सुरक्षित रख सकेगे।

□□